



श्री धर्मपालजी (जन्म-काधला, मुजफ्फरनगर, १९२२) ने लाहौर में शिक्षा पाने के साथ स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लिया। मीरा बेन द्वारा रुडकी एवं ऋषिकेश के बीच स्थापित 'पशुलोक' एवं 'बापुग्राम' से सम्बद्ध रहने के बाद 'एसोसिएशन ऑफ वालण्टरी आर्गेनाइजेशन्स ऑफ रुरल डेवलपमेण्ट' (अवार्ड, दिल्ली) के महासचिव और निदेशक (१९५८-

१९६४) रहे। फिर अखिल भारतीय पंचायत परिषद के शोध विभाग का कार्य देखते (१९६४-६५) रहे। वर्तमान में धर्मपालजी भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के सदस्य और राष्ट्रीय गौपशु आयोग के अध्यक्ष हैं।

श्री धर्मपालजी ने गत पचीस-तीस वर्ष अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में इतिहास द्वारा उपेक्षित भारतीय समाज की शक्तियों-कमियों की खोज करने में लगाये हैं और देश-विदेश के अभिलेखागारों-ग्रन्थागारों से प्रभूत प्रमाण एकत्र किये हैं जिनसे अंग्रेजी शासन से पूर्व भारतीय समाज की एक ऐसी तस्वीर का पता चलता है जो आज के भारतीय मन में अंकित तस्वीर के सर्वथा विपरीत है।

श्री धर्मपाल के प्रकाशित ग्रन्थ हैं -

सिविल डिसओबीडिएन्स एण्ड इन्डियन ट्रेडीशन
इण्डियन साइन्स एण्ड टेक्नॉलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी
डेस्पोलियेशन एण्ड डिफेमिंग ऑफ इण्डिया

द मद्रास पंचायत सिस्टम

द ब्यूटीफुल ट्री

अंग्रेजों से पहले का भारत

भारतीय चित्त, मानस और काल

भारत का स्वधर्म

स्वदेशी और भारतीयता

अंग्रेजी की सभी पुस्तकें अभी हाल में अदर इण्डिया प्रेस, गोवा से पुनः प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी में भी शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रही हैं।

: प्रकाशक :

धर्मपाल

स्वदेशी और भारतीयता



धर्मपाल

स्वदेशी और भारतीयता

धर्मपाल

संकलन एवं संपादन

शिवदत्त

भारत पीठम्

विषय सूची

दो शब्द

प्रस्तावना

स्वदेशी और भारतीयता

कॉपीराइट : लेखक

पहला संस्करण : सितम्बर 2001 (3000 प्रतियां)

दूसरा संस्करण : जुलाई 2002 (5000 प्रतियां)

प्रकाशक :

भारत पीठम

चांडक निवास, शास्त्री चौक

वर्धा (महाराष्ट्र) 442101

फोन नं. — (07152) 84441, 42851

मुद्रक : कॉन्फीसेक प्रिंटर्स, अहमदाबाद

मूल्य: 20 रुपये

1. स्वदेशी और भारतीयता — 9
2. गांधी को गाली देना नया नहीं है — 20
3. जारी हैं गांधी पर नेहरू के हमले — 24
4. हिंदुस्तानी तासीर दफनाने के लिये अंग्रेजों ने बनवाई कांग्रेस — 28
5. अपना नियंत्रण खत्म हुआ तो न स्वायत्तता रहेगी न स्वावलंबन — 31
6. आम आदमी की ताकत पहचानने से ही बनेगा स्वदेशी मॉडल — 35
7. पश्चिमीकरण को मानने वाले आज भी दो फीसदी — 39
8. भारतीय मॉडल सम्पत्ति जोड़ने का नहीं बँटवारे का है — 43
9. विकास का सवाल — 47
10. भारतीय समाज बनाम पश्चिमी समाज व्यवस्था — प्रथम — 63
11. भारतीय समाज बनाम पश्चिमी समाज व्यवस्था — द्वितीय — 68
12. भारत का पुनर्निर्माण — 72
13. हमारे सपनों का भारत — 78
14. अंग्रेजी शासन और तंत्र व्यवस्था — 88
15. कहाँ हैं पश्चिमीकरण की जड़ें — 93

प्रस्तुत पुस्तक धर्मपालजी द्वारा समय समय पर लिखे गये लेखों का संकलन है। व्यापक संदर्भों में भारतीयता एवं स्वदेशी की समझ बनाने में यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी। साथ ही साथ यह पश्चिमी सभ्यता के वास्तविक स्वरूप एवं उसके विकास पर एक मोटी रूपरेखा भी प्रस्तुत करती है।

लेखों की मौलिकता एवं निरंतरता किसी भी रूप में प्रभावित न हो, इस दृष्टि से इनमें संपादन की न्यूनतम कोशिश की गई है। अध्याय 2 से अध्याय 8 तक के लेख जनसत्ता (हिन्दी दैनिक) के वरिष्ठ पत्रकार राम बहादुर राय द्वारा धर्मपालजी से की गई बातचीत पर आधारित हैं। **जारी हैं गांधी पर नेहरू के हमल** शीर्षक लेख में उन्होंने गांधी और नेहरू का नाम विचारधारा के प्रतीक के रूप में लिया है।

संपादन न्यूनतम करने के कारण पुस्तक में कहीं कहीं तथ्यों या विचारों की पुनरावृत्ति स्वाभाविक है। इसलिये सुधी पाठकगण पुस्तक पढ़ते समय इसे सामान्य त्रुटि समझ कर क्षमा करेंगे, ऐसी अपेक्षा है।

आशा है यह पुस्तक विद्वान पाठकों में गुलामी की मानसिकता और भारतीयता के बारे में एक अच्छी समझ विकसित करेगी।

28.9.2001

सेवाग्राम

शिवदत्त

सन् 1946-47 में अंग्रेजों की राजनैतिक सत्ता जब भारत से समाप्त होनी निश्चित हो गई, तब सभी को लगा था कि अब भारतीय समाज स्व-विवेक से, स्व-शक्ति से, स्व-पथ पर फिर से चल सकेगा। भारतीय जन इसे एक नये युग का आरम्भ मान रहे थे। परन्तु ऐसा लगता है कि वह नया युग आते-आते रूक-सा गया।

वस्तुतः उन दिनों देश में कुछ ऐसी भावना बनी कि भारत का नया युग तो दो सौ वर्ष पूर्व अंग्रेजों के आने के साथ ही आरम्भ हो चुका था। एक अंतरराष्ट्रीयतावादी दृष्टि के अंतर्गत यह माना जाने लगा कि औद्योगिक क्रांति के साथ एक ही बार में सारा संसार परिवर्तित हो चुका है। अब संपूर्ण विश्व की नियति उसी औद्योगिक विकास की दिशा में बढ़ते जाना है। इस दिशा में बढ़ने के लिए अंग्रेजों के राज्य के दौरान सुदृढ़ हुए राज्यतंत्र तथा अन्य संस्थागत व्यवस्थाओं का मजबूत रहना आवश्यक दिखाई दिया। अंग्रेजी राज्य के समय की पराधीनता एवं स्वतंत्रता आंदोलन के समय की असुरक्षा की यादों के रहते ये संस्थाएं और भी अपरिहार्य लगने लगीं। अतः इन्हें बनाये रखने में ही देश की प्रायः समस्त सृजनात्मक शक्ति खर्च होने लगी।

अब भारतीय राज्य के 54 वर्षों तक चलने के बाद, राज्यतंत्र एवं अन्य संस्थागत व्यवस्थाएं पर्याप्त सुदृढ़ हो चुकी हैं। देश भर में नय-नये समूह विविध स्थानों पर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्यप्रवृत्त हुए हैं। स्वतंत्रता संग्राम वाली पीढ़ी की असुरक्षा की भावना के लिए अब कोई वस्तुगत कारण नहीं बचा है। वस्तुतः वह सारी पीढ़ी अगली पीढ़ियों के लिए स्व-बुद्धि के अनुसार जीवन का आधार जुटाकर एवं राज्य की सुदृढ़ता के पर्याप्त प्रबंध कर समाप्त हो गई है।

अब समय है कि असुरक्षा एवं असमर्थता की भावनाओं से पुर्णतः मुक्त होकर हम देश एवं देश के भविष्य के बारे में अपनी बुद्धि से सोचें। 40-50 वर्ष पहले भारतीय समाज का उत्तरदायित्व सम्भालने वाली पीढ़ी में गांधी जी से भावनात्मक लगाव के बावजूद, अपनी स्मृतियों, बुद्धि-रूपों और इच्छाओं के चलते ऐसी सामर्थ्य और ऐसे साहस का संकल्प नहीं जग सका।

देश के भविष्य के बारे में नवचिंतन करते हुए हमें यह याद रखना होगा कि विश्व के सभी समूहों के लिए कोई एक सही निर्धारित दिशा नहीं होती है।

दुनिया किन नियमों से चलती है, यह अंतिम तौर पर तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह निश्चित है कि हर समाज की अपनी विश्वदृष्टि होती है। इनमें कोई एक सही है, शेष सब गलत हैं, यह मान पाने का कोई साक्ष्य नहीं है। अंग्रेजों की पराधीनता को भोग चुकी पीढ़ी को यूरोप की दिशा ही शायद अकेली ठीक दिशा लगी हो, परन्तु आज ऐसा कोई बोझ नहीं होना चाहिए।

संपूर्ण मानवीय समाज एक है, उनकी नियति एक है, यह प्रतिपादन अपने में शायद ठीक हो। परन्तु इस प्रतिपादन के अर्थ भी हर समाज में अलग-अलग होते हैं। आधुनिक पश्चिमी समाज के मुताबिक मानवीय समाज की एकता का अर्थ मानव-समूहों की एवं उनकी क्रियाशीलताओं पुरुषार्थों की एकरूपता से लिया जाता है। भारतीय परम्परा के अनुसार एकता की इस मान्यता का रूप यह रहा है कि यह जगत-धर्म में प्रतिष्ठित है। जो व्यक्ति और समाज धर्ममय आचरण करेंगे, वे श्रेयस को प्राप्त होंगे। जो धर्म-च्युत होंगे, सत्य, ऋत तथा आत्मसंयम का उल्लंघन करेंगे, वे तत्काल प्रबल दिखाई देने पर भी व्यापक कालप्रवाह में शीघ्र ही क्षय के शिकार हो जायेंगे। इस स्तर पर मानवीय समाज और संपूर्ण विश्व एक है। एकता की इस मान्यता में आधुनिक एकरूपता का कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः नामों और रूपों की विविधता मानव समाज की एकता की परम्परागत भारतीय मान्यता का अभिन्न अंग है।

एकता के प्रति भारतीय परम्परागत मान्यताओं को देखते हुए तथा देश के भविष्य के बारे में नवचिंतन करते हुए हमें देश को विकसित विश्व के साथ एकरूप कर देने के मोह को छोड़ना होगा। हम अपने देश के उस रूप के बारे में ही सोचें, जो हमारे लिए श्रेयस्कर हो। अपने इतिहास को, अपने लोक-मानस और अपनी परम्परा को जानना, उसकी स्मृतियाँ जीवंत रखना आवश्यक है। अपनी परम्परा, अपनी संस्कृति के स्वरूप, आधार तथा व्यवहार को हम सदा स्मरण रखें। भारतीय दृष्टि से संसार के विभिन्न समाजों के बारे में भी आवश्यक जानकारी जुटायें, उन समाजों के स्वरूप-आधार तथा व्यवहार के बारे में अपने लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्त करें। अपने बारे में और संसार के बारे में इस दृष्टि से जानकारीयों - खोजों को समेट कर ही हम अपने लिए रास्ता, सोच और बना पायेंगे तथा उस पर चल सकेंगे।

नई पीढ़ी अपने में नया विश्वास रखते हुए पिछली पीढ़ी के भारतीय परम्पराओं के प्रति संकोच से भी ऊबर पायेगी और भारतीय इतिहास, परम्पराओं, भारतीय समाज के स्वरूप, आधार और व्यवहार-रूपों का समुचित गिने-चन कर विकास की धारा को जनमानस के साथ जोड़ पायेगी, ऐसी आशा की जा

सकती है।

अपनी विश्व दृष्टि के अनुरूप परम्परा से, हजारों वर्षों से भारतीय लोक-मानस गतिशील रहा है। हर समाज के जीवन में उत्तार-चढ़ाव आते हैं। कुछ शताब्दियों पहले शायद हमारे समाज में भी कुछ बिगाड़ आया। शायद समाज की विविध संस्थाओं के आपसी रिश्ते कुछ कमजोर हुए और परिणामस्वरूप यह समाज भी कमजोर हुआ। इसी बीच भारत में अंग्रेज आये और उनके आने से भारतीय समाज की विविध संरचनाएँ टूटीं। समाज का राजनैतिक संस्थाओं से रिश्ता टूटा। राज्यतंत्र का एक दूषित रूप समाज पर थोपा गया; जो समाज से शक्ति प्राप्त करने वाला और उसे शक्तिशाली बनाने में अपना योगदान देने वाला नहीं रहा। अपितु जो समाज को अस्वस्थ, कमजोर बनाने वाला रहा और इस तरह यह राज्यतंत्र स्वयं भी अस्वस्थ रहा।

ऐसे अस्वस्थ राज्यतंत्र की प्रतिष्ठा भारतीय समाज की तात्कालिक पराजय का फल थी। भारतीय समाज की इस हार के चलते हुए हम शायद अपने पूर्ण अतीत के बारे में संकुचित हो गये। हमें ऐसा लगने लगा कि सुरक्षा के लिए सभी परम्परागत बुद्धि-रूपों को त्यागना होगा, लोकमानस पर उनका प्रभाव समाप्त करना होगा। परन्तु किसी समाज की कोई भी हार की स्थिति स्थायी तो नहीं हो सकती। आशा की जा सकती है कि नई पीढ़ी अतीत का समुचित विवेचन कर पायेगी। अतीत की स्मृति के बिना तो कोई सर्जना नहीं होती है। स्मृति-भ्रंश का अर्थ है बुद्धिनाश।

अब जब देश समुचित सुरक्षित है, देश में आधुनिकतावाद की तरफ बढ़ने या अपनी कोई नई दिशा निर्धारित कर उस तरफ चलने, दोनों के लिए ही पर्याप्त साधन एवं क्षमताएँ हैं, तब हम मिलकर सोच सकते हैं कि हमारा स्वधर्म क्या है? हमारे पूर्वजों का शील और सौंदर्य क्या रहा है? हमारी शक्ति तथा निर्बलता का स्वरूप क्या है?

अपने देश के समस्त नागरिकों के भले के लिए और भारत के पड़ोसियों, बंधु देशों के भले के लिए हमें श्रेयस्कर पथ को जानना-पहचानना और अपनाना है। भारतीय संस्कृति एक बड़ी संस्कृति है। स्थिति और आकार की दृष्टि से भी भारत बड़ा देश, बड़ा समाज है। हमें इन सभी जिम्मेदारियों और कर्तव्यों का विचार करते हुए अपना मार्ग खोजना-बनाना है। हम स्वयं अभयपूर्वक स्वधर्म को पहचानेंगे और अपनायेंगे तो हमारे बंधु देशों में भी इसका प्रतिसंवेदन होगा।

स्व-विवेक से खोजे-पहचाने-बनाये गए स्व-पथ पर स्व-शक्ति से चल रहा और इस प्रकार अपने पड़ोसियों में अभय का सहज संचार कर रहा

स्वाधीन भारत ही संसार के भले के लिए भी सहायक सिद्ध होगा। “स्वदेशी और भारतीयता” इन्हीं बातों पर राष्ट्रीय बहस चलाने की दृष्टि से एक प्रयास है। हम सबके लिये यह आवश्यक है कि हम भारतीय वर्तमान को भारतीय अतीत की धारावाहिकता में देखें तथा उसमें से भारतीय भविष्य का प्रारूप बना उसे साकार करने में जुट जायें। अपने अतीत एवं वर्तमान पर विश्वास रखते हुए भारत की नई पीढ़ी भविष्य का जो नया प्रारूप बनायेगी, उसमें भारतीय समाज अपने राज्यतंत्र के साथ भी स्वस्थ संबंध बना सकेगा।

— धर्मपाल

स्वदेशी और भारतीयता

एक

स्वदेशी की पुनर्प्रतिष्ठा के द्वारा भारत वर्ष फिर से सबल—सशक्त तेजस्वी राष्ट्र बन कर समकालीन विश्व में स्वधर्म को निभाये, यह आकांक्षा देश के अधिकांश लोगों की है; ऐसा मैं मानता हूँ। यद्यपि पिछले 52—54 बरसों में हम जिस रास्ते पर चले, वह तो हमें स्वदेशी से दूर ही ले गया। ऐसी स्थिति में स्वदेशी शील, व्यवहार और स्वधर्म की पुनः प्रतिष्ठा कैसे संभव होगी; यह विचारणीय है।

स्वदेशी और भारतीयता की प्रतिष्ठा के लिये जहाँ प्रबल भावना का महत्व है, वहीं उसकी प्रतिष्ठा आज कैसे संभव है, इसकी समझ और उसे प्रतिष्ठित कर सकने की शक्ति की भी साधना आवश्यक है।

दो

स्वदेशी अत्यंत प्राचीन अवधारणा है। शायद जब से धरती पर जीवन है, तभी से स्वदेशी का भाव और व्यवहार भी है। शायद स्वदेशी ही जीवों के व्यवहार की सहज प्रवृत्ति है। सभी मनुष्य—समाज तथा सभी प्राणी समाज सहज ही स्वदेशी व्यवहार करते हैं। क्योंकि, जैसी कि महात्मा गांधी ने 14 फरवरी 1916 को मद्रास में ईसाई मिशनरियों के एक सम्मेलन में दिए गए अपने भाषण में स्वदेशी की परिभाषा की थी — “स्वदेशी वह भावना है, जिससे कि हम आसपास के परिवेश से ही अपनी अधिकतम आवश्यकतायें पूरी करते हैं और उनसे ही अधिकाधिक व्यवहार सम्बन्ध रखते हैं तथा स्वयं को उनका सहज अभिन्न समझते हैं, न कि दूरस्थ लोगों और वस्तुओं से स्वयं को जोड़ने लगते हैं। स्वदेशी की यह भावना जब होगी तब हम अपने पूर्वजों के धर्म को ही आगे बढ़ायेंगे, न कि किसी अन्य धर्म को अपनाने लगेंगे। अपने धर्म में जो वास्तविक कमी आ जाएगी, उसे सुधारेंगे। राजनीति में हम स्वदेशी संस्थाओं का ही उपयोग करेंगे और उनकी कोई सुस्पष्ट कमियां होंगी तो उन्हें दूर करेंगे। आर्थिक क्षेत्र में हम आसपास के लोगों तथा स्वदेशी परम्परा और कौशल द्वारा उत्पादित वस्तुओं का ही उपयोग करेंगे और उन्हें ही सक्षम तथा श्रेष्ठ बनायेंगे।”

महात्मा गांधी द्वारा की गई स्वदेशी की इस परिभाषा को शायद आज और अधिक स्पष्ट करना पड़े या शायद उसे कुछ परिवर्तित या परिमार्जित परिष्कृत करना पड़े। जो भी हो, इस पर गहरे विचारपूर्वक निश्चय करने की आवश्यकता है।

स्वदेशी की भावना का उपयोग 17 वीं 18 वीं शती ई. में इंग्लैंड में भी किया गया। तब अंग्रेज व्यापारी बड़े व्यापारिक लाभ के लिए भारतीय वस्त्रों को इंग्लैंड तथा यूरोप में ले जा रहे थे और वहाँ के बाजारों में भारतीय वस्त्र छा — से गये थे। इंग्लैंड के बुनकरों और ऊनी तथा सन से बने वस्त्र उद्योग के अन्य शिल्पियों ने इसका विरोध किया और अपने द्वारा स्वदेशी वस्त्रों का ही धंधा किए जाने पर बल दिया और दबाव डाला।

भारत में 1905 ई. में स्वदेशी का एक सशक्त आंदोलन उभरा जो बंगाल के विभाजन के विरोध में उठा था। इस स्वदेशी आंदोलन की प्रमुख प्रेरणा स्वामी विवेकानन्द थे और इसके सर्वाधिक सक्रिय नेताओं में थे श्री अरविंद घोष।

फिर कर्मवीर महात्मा गांधी जब जनवरी 1915 से भारतीय सार्वजनिक जीवन में आये तब से स्वदेशी के भाव और विचार में पुनः वेग आया। लगभग तीस—पैंतीस बरस तक स्वदेशी भारतीयों का मन्त्र बना रहा और स्वदेशी, स्वराज तथा स्वधर्म की प्रतिष्ठा भारत के राष्ट्रीय जीवन का लक्ष्य—सा दिखने लगा।

आज यदि उस स्वदेशी के भाव और विचार को फिर जागृत करना, संगठित करना और प्रबल बना कर राष्ट्रीय जीवन—व्यवहार का उसे स्वभाव बनाना है तो स्वदेशी की परिभाषा और स्वरूप पर फिर से और अधिक विचार विमर्श तथा गहराई से मनन करना होगा। समकालीन विश्व संदर्भों को जानते तथा स्मरण रखते हुए उसकी संभावनायें देखनी समझनी तथा जाँचनी परखनी होगी और उन शक्तियों को भी पहचानना होगा जो कि स्वदेशी और भारतीयता की पुनर्प्रतिष्ठा कर सकेंगी या कि उसका माध्यम और वाहन बनेंगी।

तीन

बाहर से कहाँ से क्या—क्या और कहाँ तक सीखना और लेना है यह विचार भी स्वदेशी का अभिन्न अंग है।

यों तो संसार भर में लोग एक दूसरे से सीखते ही रहते हैं। ऐसा कहा जाता है कि यूरोप ने छपाई की कला और प्रयोग विधि, नाविकों का कम्पास और उसकी प्रयोग—विधि, बारूद बनाने का शास्त्र और विधि तथा कागज बनाने

की विधि 13 वीं, 14 वीं शताब्दी में चीन से सीखी। इसी तरह चेचक का टीका ब्रिटेन में पहली बार 1720 में तुर्की से सीख कर लाया गया। बाद में भारत से उन्होंने चेचक के टीके की अधिक परिष्कृत और उन्नत विधि सीखी। आधुनिक शल्य चिकित्सा का उद्गम भी भारतीय चिकित्सा विज्ञान से जुड़ा है। 1790—1810 के बीच, विशेषतः पुणे क्षेत्र से, अंग्रेजों व यूरोपियों ने यह विज्ञान सीखा।

बढ़िया लोहा और इस्पात बनाने की तकनीक भारत में प्रचलित थी। संभवतः उससे ब्रिटेन के लोहे और इस्पात उद्योग ने 19 वीं शताब्दी में बहुत कुछ सीखा।

जापान ने 20 वीं शती ई. के आरंभ में पश्चिमी व्यवस्थाओं, तकनीकों और उत्पादनों का अपने ढंग से गहराई से निरीक्षण किया। ऐसा कहा जाता है कि 1910 के लगभग जापान ने अमेरिका से बीस रेलवे इंजन खरीदे। इसमें से शायद एक का ही उपयोग कर जापान ने उसकी विधि को सीख समझ लिया। बताते हैं कि जब ये 20 इंजन जापान पहुँचे तो जापानियों ने उसमें से एक इंजन को पूरी तरह से खोल डाला और उसके सब कलपुर्जे भलीभाँति देख—समझ तथा जाँच लिये और फिर उसी रूप में उन्हें जोड़ दिया।

अतः एक बार हम यदि किसी तकनीक को, जो हमें अपने अनुकूल लगती है, आत्मसात् कर लेते हैं और उसे अपने अनुकूल ढाल लेते हैं तो फिर कोई भी बाहरी तकनीक शायद स्वदेशी — सी ही बन जाती है। क्या स्वदेशी की धारणा में ऐसा कुछ समायोजन करने योग्य है? जो भी हो, इस विषय में बहुत गहराई से और बड़ी सावधानी से छानबीन कर ही किसी निश्चय पर पहुँचना होगा।

परन्तु हमारी समकालीन प्रवृत्तियाँ तो स्वदेशी और भारतीयता की दिशा से विपरीत दिशा में ही चलती दिख रही हैं। यह तो है कि दिल्ली में बाबा खडकसिंह मार्ग में हमें देश में बनी कलाकृतियाँ व देसी शिल्प वाली वस्तुयें मिल सकती हैं। बम्बई, मद्रास, कलकत्ता जैसे शहरों में भी ऐसी जगहें हैं।

लेकिन भारत के 5 लाख से भी अधिक गांवों, कस्बों और जिला केन्द्रों के बाजारों में तो सामान्य देसी वस्तुएँ भी दुर्लभ ही हो चली हैं। भारतीय सामग्री से बनी, भारतीय शिल्पियों द्वारा, भारतीय शिल्प परंपरा और भारतीय रूपाकृतियों में बनी वस्तुएँ तो हमें प्रायः अपने बाजारों में नहीं दिखतीं।

आटे की हाथ चक्की, तेल पिराई की घानी, गन्ना पिराई की हाथ वाली मशीनें, मिट्टी के घड़े और पत्तल—दोने आदि तो अब हमारे सामाजिक

जीवन में प्रतिष्ठा की चीजें नहीं रहे और उनका धीरे-धीरे लोप ही हो चला है। 1920 से चली खादी भी अब कम ही हो रही है। उसके लिए कपास मिलना ही कठिन हो गया है। वैसे ही जैसे कि पिछले 100-150 वर्षों में लोहा बनाने वालों के लिए लोहा बनाने के पत्थर (आग जलाने वाला कोयला) का मिलना असम्भव कर दिया गया था। गौ-वंश के प्रति श्रद्धा भाव तो अब भी है, परन्तु गौ-वंश निरंतर घट रहा है और उस पर हमारे सभ्य समाज में कोई बेचैनी या चिन्ता नहीं दिखाई पड़ती। हमारे भोजन की सामग्री भी आज अधिकतर तो गैर भारतीय विज्ञान, प्रौद्योगिकी और उत्पादन प्रक्रिया के द्वारा ही तैयार की जाती है। यहाँ तक कि छाछ तक खाते-पीते घरों में भी दुर्लभ हो चली है।

तब ऐसी स्थिति में स्वदेशी की भावना का प्रसार किन शक्तियों के बल पर होगा, यह प्रश्न स्वभाविक है। यह विचार भी अपेक्षित है कि क्या स्वदेशी में यह हास अथवा स्वदेशी की यह उपेक्षा अंग्रेजी काल से शुरू हुई या पहले से ?

दिखता तो यह है कि अंग्रेजों से पराजय से पहले से भी हमारे शासक समूहों और सम्पन्न जनों में स्वदेशी का महत्व स्थान-स्थान पर घटने लगा था। दिल्ली और बहमनी के इस्लामी शासकों के आधिपत्य वाले भारतीय क्षेत्रों के असर से सन् 1600 के आसपास, मराठा शासकों और मराठा कुलीनतंत्र में फारसी भाषा और वेशभूषा तथा तौर-तरीकों का प्रभाव छा गया – सा दिखता है। परन्तु फिर शिवाजी के समय मराठा क्षेत्र में स्वदेशी का उभार आ गया था, ऐसा कहा जाता है। उस समय वहाँ फारसी मुहावरों आदि का प्रयोग भी घटा। लगता है कि 1550 से 1750 के बीच देश के विभिन्न हिस्सों में भी इसी तरह स्वदेशी में गिराव व उभार आता रहा।

1800 तक हम ब्रिटेन से हार चुके थे और ब्रिटेन का कब्जा पूरे भारत पर होता चला गया। इस हार से ब्रिटेन और युरोप के प्रति अधीनता का भाव भी बढ़ा। 1830 में ब्रिटिश गवर्नर जनरल बेंटिक इस पर संतोष व्यक्त करते हुए कहते हैं कि “सम्पन्न और प्रतिष्ठित भारतीय अब पश्चिमी शिष्टाचार तथा व्यवहार की विधियाँ अपनाने लगे हैं और भिक्षुकों, संन्यासियों और ब्राह्मणों को दान देना छोड़ रहे हैं। अब उसकी जगह वह धन यूरोपियों का आडम्बरपूर्ण ढंग से मनोरंजन करने में लगाया जाने लगा है।”

संभवतः बेंटिक का निरीक्षण ठीक ही था। संपन्न भारतीय जन तब तक स्वदेशी तौर-तरीके छोड़ने लगे थे। यह सब क्रमशः बढ़ता गया।

उदाहरण के लिये कुछ वर्ष पहले मैं हरिद्वार के किसी पंडे की पुरानी बही पलट रहा था। मैंने देखा कि उसमें अच्छी सुस्पष्ट अंग्रेजी में चार-पाँच

पंक्तियाँ लिखी हैं और 1895 की वह प्रविष्टि मेरे ही कस्बे के किसी निवासी की थी। बाकी बही हिन्दी में थी।

1891 से 1931 के बीच के, भारतीय जनगणना के अंग्रेजों द्वारा तैयार आँकड़े उपलब्ध हैं। उनमें शिक्षा के बारे में चार मुख्य श्रेणियाँ हैं :-

1) कुल निरक्षर, 2) कुल साक्षर, 3) देसी भाषा में साक्षर और 4) अंग्रेजी में साक्षर। जनगणना के ये आँकड़े दिखाते हैं कि तब भारत के बहुत से नगरों व क्षेत्रों में देसी भाषाओं में साक्षरता का जो प्रतिशत है, वह अंग्रेजी में साक्षरता के प्रतिशत से केवल चार गुना है। बाकी क्षेत्रों में यह प्रतिशत आठ गुना के लगभग है। यह तो होगा कि देसी भाषाओं में किसी को साक्षर, इन जनगणनाओं में, तभी लिखा गया हो, जब वह स्कूली प्रमाण-पत्र दिखाए, इसीलिए शायद देसी भाषाओं में साक्षरता का प्रतिशत अंग्रेजी साक्षरता से केवल चौगुना या आठ गुना दिखता है। भारतीय भाषाओं की पढ़ाई में कमी का मुख्य कारण पूरे देश में चलाई जा रही ब्रिटिश नीति ही होगी।

प्रत्येक भाषा एक विशद अर्थ-परम्परा, दर्शन-परम्परा और विचार परम्परा की अभिव्यक्ति होती है। जब हम विदेशी भाषा को अपनाते हैं तो प्रायः स्वयं को और विश्व को, व्यक्ति, समाज, संस्थाओं, मान्यताओं तथा लक्ष्यों, रुचियों, आदर्शों आदि को भी हम उसी भाषा-परंपरा और संस्कृति – परंपरा से देखने लगते हैं।

इसलिए न केवल उत्पादन और वस्तु निर्माण के क्षेत्र में स्वदेशी का हास हमारे यहाँ हुआ है वरन् दर्शन, समाज चिंतन, विधि-विधान, राजनीतिशास्त्र, आत्मचिंतन, शिक्षा, आर्थिक-चिन्तन आदि सभी क्षेत्रों में हम यूरोपीय बुद्धि से शासित हो चले हैं। हमारी जो आत्मछवि है, वह भी यूरोपीय ‘इंडोलॉजी’ के विद्वानों द्वारा गढ़ी गई छवि है, जो उन्होंने अपने ही प्रयोजन से रची थी। हमारे जैसे पढ़े-लिखे आज अपने स्वभाव, धर्म, धर्मशास्त्र, शिल्पशास्त्र आदि को भी यूरोप द्वारा सिखाई गई आत्मछवि के माध्यम से ही देखने लगे हैं।

चार

तो क्या स्वदेशी के संस्कार बचे ही नहीं हैं ? ऐसा नहीं है। निजी जीवन में और अपनों के प्रति व्यवहार में हमारे साधारण जन की स्वदेशी भावना झलकती है। संभवतः इसे ही भारतीयता कहा जा सकता है।

भारतीयता हमारे निजी जीवन-व्यवहार और हमारी धार्मिक व्यवस्थाओं में अभी भी, चाहे कुछ प्राणहीन रूप में ही सही, जीवित है। व्रत-उपवास

आदि में क्या खाएँ क्या न खाएँ, पूजा—अर्चना में किन वस्तुओं का, किस तरह के पेड़ों—पत्तियों और फूलों का प्रयोग करें, किनका न करें, विवाह आदि में कैसी व्यवस्था तथा व्यवहार करें, इन सबका विचार करते समय हमारे जो संस्कार उभर आते हैं और व्यवहार में व्यक्त होते हैं, वे हमारे भीतर भारतीयता के संस्कारों की गहराई के सूचक हैं। भोजन, वस्त्र, औषधि आदि में ऐसे भारतीय संस्कार अभी पचास वर्ष पूर्व तक व्यापक और प्रबल दिखते थे। आज वे बहुत कम हो चले हैं। तो इससे शायद यह निष्कर्ष भी निकल सकता है कि सुव्यवस्थित प्रयास से वे संस्कार फिर से प्रबल बनाए जा सकते हैं।

भारतीयता पर अधिक कुछ कहने का अधिकारी तो मैं नहीं हूँ किन्तु ऐसा स्पष्ट दिखता है कि भारतवर्ष में तथा उससे जुड़े उत्तरी, पूर्वी और दक्षिण—पूर्वी एशियाई देशों में कुछ विशेष लक्षण और प्रवृत्तियाँ हैं। उन्हें हम भारतीयता के रूप में पहचान सकते हैं। पश्चिम से उनका स्पष्ट भेद भी हम भलीभाँति देख सकते हैं। पश्चिम से मेरा आशय यूरोप, रूस और अमरीकी महाद्वीप तथा अरब क्षेत्रों से है।

भारतीयता के तथा भारत से जुड़े क्षेत्रों के मुख्य लक्षण समान हैं। एक तो चराचर की पवित्रता का सिद्धांत है। सत्य और ऋत का अंग है। इसमें यह दृष्टि है कि जीवमात्र पवित्र है और आदर—योग्य है। इनमें व्यावहारिक स्तर पर कुछ घट—बढ़ या तारतम्य तो रहता है। पर जीवन का कोई भी रूप, जीवन के दूसरे रूपों से इस अर्थ में श्रेष्ठ नहीं है कि एक रूप की रक्षा के लिए दूसरे रूपों को समाप्त कर दिया जाय या पूर्ण अधीनता की दशा में ले आया जाय।

इसके साथ ही हमारे यहाँ जीवन को केवल मनुष्य में या कि कुछ प्राणियों में ही सीमित कर के नहीं देखा गया। बल्कि उसे सर्वत्र देखा गया है। समग्र सत्ता ही जीवन है। नदी—पर्वत, सागर, वृक्ष—वनस्पति सभी समग्र सत्ता के महत्वपूर्ण अंग हैं। मनुष्य की अपनी सत्ता इसी समग्र सत्ता का अभिन्न अंश है। मनुष्य अन्य जीव—सत्ताओं से कुछ नितान्त भिन्न या विरोधी या श्रेष्ठतम जीव नहीं है।

मनुष्य की श्रेष्ठता का जहाँ कहीं महाभारत आदि में बखाना है भी, तो वह इसी अर्थ में कि मनुष्य को इस समग्र सत्ता का सम्मान करना है, इसके प्रति अपना कर्तव्य निभाना है, उनका संरक्षण नहीं बल्कि उनके प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह, उनसे मनुष्य जो लेता है उसे लौटाना, ऋण—शोधन करना है। यह कहीं नहीं कहा गया है कि मनुष्य श्रेष्ठ है, इसलिए शेष सब उसके भोग साधन हैं और वह उन सबके चाहे जैसे उपयोग का अधिकारी है। मनुष्य का गौरव

सबके प्रति मैत्री, प्रेम तथा करुणा की अभिव्यक्ति और अनुभूति में ही है। हमारी चाक्रवर्त्य की धारणा तक में दूसरों के समक्ष वीरता के प्रदर्शन का भाव ही प्रधान है। उनके गौरव को समाप्त करने का नहीं। दूसरों के अपने संस्कृति—रूपों को समाप्त करना तो चाक्रवर्त्य में भी निहित नहीं है। हमारी जीवन दृष्टि और हमारी सामाजिक सांस्कृतिक—राजनैतिक संस्थाएँ, सभी का मुख्य आधार परस्परता, स्वभाव में प्रतिष्ठित स्वधर्म, स्वाधीनता तथा अभय रहा है। इसलिए हमारे यहाँ पूरे सामाजिक संगठन में ऐसी ही व्यवस्थाएँ थीं।

भारत में भूमि हो, जल हो, या वन, उस पर वहाँ के निवासियों का ही स्वामित्व रहा है। वनों पर वन के जानवरों, घूमन्तू जातियों तथा वनवासियों का अधिकार भारत में परंपरा से मान्य रहा है। हमारे सामाजिक संगठन में यह व्यवस्था रही कि एक कुल—समूह या जाति समूह के एक ही तरह के प्राकृतिक साधन स्रोतों से विशेष सम्बन्ध रहे। किसी का भूमि से विशेषकर, किसी का पशुओं से, किसी का पक्षियों से, किसी का वनों से, किसी का जल से। फिर इनमें भी व्यवस्थित वर्गीकरण रहे। व्यापक सामाजिक विधि निषेध थे, जो सर्वमान्य थे। हर समूह की सामाजिक उपभोग की मर्यादाएँ निश्चित थीं। वनों के बारे में भी यह बात लागू होती है। चराई का समय, शिकार का समय, वनस्पतियों, जड़ी—बूटियों को तोड़ने या प्राप्त करने का समय सदा प्राकृतिक व्यवस्था, ऋतु—चक्र और प्रकृति के अपने नियमों की समझ द्वारा निर्धारित मर्यादाएँ थीं। पवित्र माने जाने वाले पेड़ों और प्राणियों का शिकार भी निषिद्ध था। उनके जलाशय पवित्र घोषित होते थे उनमें न शिकार संभव था, न ही उनका कोई निजी उपयोग। हर गांव के पास अपना सार्वजनिक चारागाह और अपना सामुदायिक वन—क्षेत्र या वृक्ष—क्षेत्र होता था। इन सामाजिक विधि निषेधों का उल्लंघन राज्य—तंत्र के लिए असंभव था। ऐसा राज्य तंत्र अघममय मानकर बहिष्कृत और समाप्त कर दिया जाता था। मर्यादा का महत्व और व्यापक धर्म से अनुशासित स्वधर्म की प्रतिष्ठा भारतीय जीवन दृष्टि का केन्द्रीय भाव है। राजधर्म लोकधर्म का एक अंग है। लोक और लोकधर्म व्यापक है। राज्य लोक से अनुशासित होता है। मनुष्य समेत सभी जीव सत्ताएँ लोक से ही अनुशासित रहती हैं। लोक का अर्थ मानव समाज मात्र नहीं है। वस्तुतः “मैनकाइंड के अर्थ में मानव समाज भारतीय जीवन दृष्टि की कभी धारणा ही नहीं रहा। क्योंकि प्रत्येक मानव समूह अपने जनपद और अपने परिवेश का ही सहज तथा अभिन्न अंग है। इसलिए किसी भी जनपद के मनुष्य का उस जनपद के अन्य जीवों, पशु—पक्षियों, जलचर—थलचर—नभचर सभी जीव जन्तुओं,

वृक्ष—वनस्पतियों, आकाश, नदी—पर्वत, तालाब—झरने, कुएं—बावड़ी, फल— फूल, अनाज आदि से अधिक घनिष्ठ संबंध और आत्मीयता है, बनिस्पत बहुत दूरवर्ती किसी अन्य मानव समूह से। इस प्रकार मध्य देश के निवासी मनुष्यों के सहज आत्मीय तो मध्य देश के ही जीव—जंतु तथा चराचर जगत हैं न कि संयुक्त राज्य अमरीका या और किसी अतिदूरवर्ती देश के मनुष्य। कुछ अंश तक तो यह रिश्ता आज के संसार के दूसरे देशों में भी व्यावहारिक रूप में चलता ही है। चराचर जीवों और जीवन से आत्मीयता के ये संस्कार अभी भी व्यवहार में प्रकट होते हैं। चींटियों, कौवों, कुत्तों के लिए अंश निकालने, बंदरों को चने आदि खिलाने, गायों की सेवा करने, सांड आदि को मुक्त छोड़ने, मछलियों को खिलाने, नदियों के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव, तालाब, कुएं, बावड़ियाँ बनवाने को पुण्य कर्म मानना, चिड़ियों तथा विविध पक्षियों को चुगने के लिए दाने डालना; शेर, मगर जैसे भयंकर माने जाने वाले जीवों के लिए भी गहरी आत्मीयता तथा परस्परता का भाव रखना और उनसे किसी अतिरंजित भय को न पालना, सांप को दूध पिलाना, शादी—विवाह में नदियों—बावड़ियों—कुओं आदि को पूजना और न्यौतना— ये सब इसी भारतीय जीवन दृष्टि के अभिन्न अवयव हैं।

इस भारतीयता में मनुष्य कोई सृष्टि का केन्द्र नहीं है। सहज अंश है। समस्त जीवन—रूप पूज्य है, पवित्र है और जीवन रूपों की विविधता सहज है, रक्षणीय है तथा सम्मान योग्य है। मानवीय स्वभाव का वैविध्य जीवों की ही तरह सहज और अनिवार्य है। जनपदों और कुलों के आधार पर मनुष्यों की समाजिक पहचान ही स्वाभाविक है और अपने परिवेश से अभिन्नता की अनुभूति भी उतनी ही स्वाभाविक है। इसी कारण हमारे यहाँ ऐसी कोई परंपरा कभी नहीं रही कि समस्त मनुष्य किसी एक मानव—जाति के केन्द्रीय संगठन से अनुशासित और संचालित होने योग्य हैं, और मानव का संगठन हमारे यहाँ इस दृष्टि से तो कभी सोचा ही नहीं गया कि प्रकृति और प्राणिमात्र उसके शत्रु हैं और उनसे उसे अपनी रक्षा करनी है।

पांच

इसके विपरीत यूरोप की, ईसाईयत की विश्वदृष्टि में मनुष्य ही केन्द्रीय सत्ता है। इस्लाम की दृष्टि भी ऐसी ही है। वही समस्त सृष्टि का केन्द्र है। यह सम्पूर्ण जगत, जीव—जन्तु और वृक्ष वनस्पतियाँ उसी के भोग के लिये और उसी की सेवा में हैं। और मनुष्य सम्पूर्ण प्रकृति का तथा समस्त जीवों का रक्षामी और नियन्त्रक है तथा वह नियन्त्रक बने, यही वहाँ स्वाभाविक माना गया है। यूरोपीय

सम्पर्क जब विश्व के भिन्न—भिन्न देशों से बढ़ा और जब वह धीरे—धीरे प्रकृति का स्वामी स्वयं को मानने लगा, तब से ही आधुनिक पश्चिमी मनुष्य ने मानव जाति की धारणा रची है। मानव जाति की यह धारणा मनुष्य को प्रकृति के विरुद्ध तथा अन्य सभी जीवों के विरुद्ध रखकर देखती है। इस धारणा को मान लेने के बाद यही स्वाभाविक है कि भिन्न—भिन्न कसौटियों के आधार पर मानव—जाति की विविध श्रेणियाँ बनाई जायें और इस श्रेणी—क्रम में जो लोग ऊँचे सोपान पर हैं, उन्हें शेष सबके जीवन को नियन्त्रित करने का स्वाभाविक अधिकार मान्य किया जाये। इसे ही साकार करने के लिये दर्शन, साहित्य, विज्ञान और प्रौद्योगिकी की ऐसी दिशाएँ और ऐसे संस्थान विकसित किये गये और उन्हें ऐसी दिशाओं में नियोजित किया गया तथा उनकी ऐसी व्याख्याएँ की गई, जिससे कि इस मानव—केन्द्रित दृष्टि की निर्विवाद प्रतिष्ठा हो और अन्ततः विकसित उच्च श्रेणी के यूरोपीय या पश्चिमी मनुष्य के लक्ष्यों की रक्षा और पोषण हो सके।

यूरोपीय सफलता के चकाचौंध के कारण भारतीय शासक—समूहों, भारतीय राज्य की सेवा के इच्छुक प्रतिस्पर्धी समूहों तथा सम्पन्न लोगों में भी यूरोपीय मानव—केन्द्रित मान्यताएँ आज एक सीमा तक पैठ चुकी हैं। हम इस रास्ते पर कहाँ तक, कितना और कैसे चल पायेंगे, यह पूरी तरह सोचने समझने का समय निकाले बिना ये मान्यताएँ अपना ली गई हैं। इसी के प्रभाव से भय की और दूसरे को शत्रुभाव से देखने की मनोवृत्तियाँ भी इन समूहों में बढ़ती जा रही हैं। हमारा पुलिस बल भी समाज को भयभीत रखकर ही व्यवस्था की रक्षा कर पाना सम्भव समझने लगा है। इसलिए अपने संस्कारों के कारण वह अपने समाज का प्रत्यक्ष दमन—उत्पीड़न शायद उतना अधिक नहीं भी कर पाता हो, परन्तु उसके किस्से हवा में फैलें और समाज के सर्वसाधारण लोग उससे आतंकित/भयभीत रहें, उसका यह प्रयास प्रायः दिखता है। राज्य—संस्था की दंड—शक्ति का लक्ष्य केवल दुष्टता को त्रास देना होता है जिससे समाज में स्वधर्म—पालन के लिए अभय और आत्मीयता का परिवेश सुदृढ़ बने। समाज में भय का संचार करने वाला या उसमें फूट और भेद—भाव बढ़ाने वाला राज्य तो हमारे यहाँ कुराज ही कहा गया है। आततायी राज्य को तो समाज आत्मीय भाव से देख नहीं पायेगा। इसलिए भारतीय राज्य के सेवकों तथा सेवा के इच्छुक प्रतिस्पर्धियों को भी राज्य और समाज के रिश्तों में परस्पर भय, अलगाव, अविश्वास तथा विरोध भाव को बढ़ावा देना त्यागना चाहिए।

हमें कौन सी दिशा अपनानी है, यह निश्चय तो हमें ही करना पड़ेगा।

प्रमाद और संवेदन शून्यता की अभी की स्थिति तो हमें आत्मक्षय और आत्मविलोप की ओर ही ले जाएगी।

दुविधाग्रस्त मनोदशा में रहकर तो हम कहीं भी नहीं पहुंच पायेंगे। गहराई से आत्म-स्मरण और मनन करना होगा और स्पष्ट निर्णय लेना होगा। अगर स्वयं को यूरोपीय सांचे में ही ढालने का हमारा मन बन चुका है, तो उसी दिशा में सुनियोजित प्रयास करें। हो सकता है, हम उसमें सफल होकर सशक्त और उन्नत समाज तथा राष्ट्र बना सकें।

लेकिन यह अधिक सम्भव है कि इस दिशा में बढ़ने पर पश्चिम और शेष विश्व पर हमारी निर्भरता आज जैसी ही बनी रहे या बढ़ती जाये तथा हम पश्चिमी जीवन शैली के एक तीसरे दर्जे के अनुयायी ही बने रहें। अपने देश के 80 से 90 प्रतिशत लोगों के प्रति हम अभी की तरह उदासीन बने रहें और उन सब लोगों को घुटघुटकर जीने के लिये विवश करने वाली अपनी वर्तमान जीवनशैली जारी रखें। इससे उनकी घुटन और बढ़ती चली जायेगी तथा हम अपनी लालसाओं में एवं अपने अपेक्षाकृत छोटे पड़ोसियों के साथ अन्तहीन झगड़ों में और भी अधिक उलझते चले जायेंगे।

परन्तु मुझे तो आशा यही है कि भारत के करोड़ों युवा जन ऐसी हीनता, अधीनता तथा उस पर निर्भरता को उचित नहीं मानते और यह जीवन शैली उन्हें प्रिय नहीं है। और इसलिए मेरा विश्वास है कि, वे भारत की पुनर्रचना के बारे में विचार, मंथन तथा मनन प्रारम्भ करेंगे जिससे कि भारतीय जीवन की समृद्धि, विशेषता और समस्त जीवन जगत के प्रति आत्मीयता तथा सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों वाली जीवन-शैली फिर से साकार हो सके और नये-नये रूपों में अभिव्यक्त हो सके।

छः

भारत की प्राचीनता और विविधता भारत के लिये एक बड़ा वरदान ही रही। काल के बहाव में यह अवश्य हुआ होगा कि इस विविधता से भारत में कुछ उलझनें भी पैदा हुई होंगी। कुछ विविधताएँ तो काल के प्रभाव से मृतप्राय ही रह गयी होंगी, अवशेषों जैसी।

भारतीय साहित्य मात्रा में तो विराट है ही, इसकी रचना की कालावधि भी सुदीर्घ है। विश्व के और साहित्यों की तरह इसमें भी नयी-नयी कृतियाँ, विचार, व्यवस्थाएँ जुड़ती रहीं और समय-समय पर पहले कही गयी बातें नये-नये ढंगों से कही जाती रहीं। इस प्रकार के बदलाव सभी क्षेत्रों में

मिलेंगे चाहे वह ज्योतिषशास्त्र हो, या आयुर्वेद या राज्य और अर्थनीति या रामायण ही। महर्षि वाल्मीकि रामायण के बाद अनेकों रामायण रचे गये और उन सबमें अलग-अलग तरह से पुराना कुछ-कुछ बदलता गया और नया कुछ-कुछ जुड़ता गया। भारत की सनातनता एक तरह से भारतीय प्रवाह में रही, उसके ग्रन्थों व स्थिरता में नहीं।

इस्लाम के शासकों ने, जहाँ-जहाँ उनका कुछ प्रभुत्व रहा, वहाँ भारतीय सनातनता को बांधकर देखने की कोशिश की, जैसा कि विदेशियों को अपरिचित स्थानों, विचारों व सामग्रियों के साथ, अपनी समझ के लिये करना पड़ता है। उन्होंने भारतीयता को जहाँ-तहाँ बांधना चाहा, उसमें स्थिरता और शिथिलता लानी चाही। लेकिन उनसे यह अधिक नहीं हो सका।

यूरोप और विशेषतः अंग्रेज, इस दिशा में और कार्य में, अधिक तीव्रता से आगे बढ़े। अंग्रेज पूरे भारत को राजनीतिक और आर्थिक तौर पर अपने अधीनस्थ भी कर पाये। अपने राज्य को पक्का करने के लिये उन्होंने भारतीय ग्रन्थों में से वह सब छांट-छांटकर इकट्ठा किया, जो उनके काम का था और उसे ही ऊपर उछाला। उसी में से एक तरह का भारतीय इतिहास रचा गया और भारत की व्याख्याएं बनाई गई। ऐसे इतिहासों और व्याख्याओं में सब असत्य या काल्पनिक ही हो, ऐसी बात नहीं है। लेकिन यह सब जो चित्रण किया गया, यह सन्दर्भ रहित हो गया। इसमें भारतीय चित्त, आत्मा और मानसिकता एकदम किनारे रख दी गई। यह चित्रण जो अंग्रेजों द्वारा किया गया, इससे 1860-1870 के बाद भारत में एक बड़ी टूटन हुई। धीरे-धीरे सन्दर्भ अदृश्य जैसे हो गया और टूटा एवं बिखरा भारत हमारे पास रह गया।

स्वराज आने का लक्ष्य यह था कि हम भारत के अपने सन्दर्भ को फिर से पायें तथा बिखरे और रौंदे हुए भारतीयता के लाखों टुकड़ों को भारत के सन्दर्भ से, फिर से जोड़ें। यह काम हम अभी तक नहीं कर पाये हैं। शायद अभी तक हमें यह सूझा भी नहीं है कि इस तरह का सन्दर्भ खोजना और बिखरे टुकड़ों को इससे जोड़ना भी हमारा काम है।

पुराने अवशेषों के अलावा, अब हमारे यहाँ बहुत ही अधिक, पिछले 200-400 बरस में बनी, व्यवस्थाओं, कानूनों, तन्त्रों, बीमार मानसिकताओं का ढेर का ढेर कबाड़ इकट्ठा हो गया है। हमें जीवित रहना है तो इन सब को हटाकर कहीं जलाना व दफनाना ही पड़ेगा। तब ही ठीक तरह से सन्दर्भ मिलेगा और जैसा भी जुड़ाव हम आज चाहते हैं, वह बन सकेगा।

गांधी को गाली देना नया नहीं है

स्वदेशी की परिकल्पना क्यों एक खोए हुए सपने सी लगने लगी है ? क्यों इस देश के लोग महात्मा की 'मूर्ति' तोड़ने की मानसिकता से बच नहीं पाते ? किसी के मुंह से महमूद गजनवी की जयकार कैसे निकलने लगती है ? और क्या ये सब उत्पात के लक्षण हैं ? और हैं तो उन उत्पातों से बचने और देश को बचाने का कोई रास्ता भी है क्या ?

आम लोगों की तरह गांधीवादियों को भी ये सवाल मथ रहे हैं। पर उनमें कोई खुदबुदी या सनसनी नहीं है। बहुत सारी बातें चक्रीयगति में चलती हैं। शुरू होती हैं। उभरती हैं। गिर जाती हैं। और फिर नए सिरे से उठ जाती हैं। न उनकी आम स्वीकृति बनती है, और न खारिज ही हो पाती है। गांधी और गांधीवाद को 1920 के बाद से लगातार ऐसे हमलों का शिकार होना पड़ा है। पश्चिमपरक जवाहरलाल नेहरू और अंतरराष्ट्रीय ताकतों ने मिलकर 1944 आते-आते ही महात्मा को किनारे कर दिया था। 1920 से संजोई स्वदेशी की कड़ी तो उसी घड़ी टूट गई। पर उतने से ही संतोष नहीं हुआ। उसके बाद तो गांधी पर बदले की कार्यवाही के तौर पर हमला किया गया। गांधी के बचाव में उनके जन भी नहीं आ सकते थे क्योंकि गांधी खुद स्वदेशी का वैकल्पिक मॉडल नहीं दे सके थे। ढांचा बनाने का वक्त ही नहीं मिला था उन्हें। जो बना भी था वह ताश के महल जैसा था। और कांग्रेस ? अंग्रेजीदाँ भारतीयों की सत्ता में भागीदारी की इच्छा और अंग्रेजों के विरुद्ध आम जनता के गुस्से को सोखता देने की मिली-जुली रणनीति से जन्मी इस संस्था का ढाँचा कभी इस बात का रहा ही नहीं कि यह पश्चिमीकरण का विरोध कर सकती। स्वदेशी और स्वालंबन—गांधी की 20 साला कमान को छोड़ दें तो कभी इसके कांग्रेस के गुणधर्म नहीं रहे। उसका ढांचा ही पश्चिमी मॉडल पर बना है। और उसकी बुनियाद में ही पश्चिम का श्रेष्ठ होना लिखा है।

कांशीराम का महमूद गजनवी को दलितों का उद्धारक कहना कुछ नया नहीं है। 1951 में लुधियाना में चुनावी सभा में डा. अंबेडकर ने अंग्रेजों पर धोखेबाजी का आरोप लगाया। कहा कि, अंग्रेज हिंदुस्तान में बिना सेना के आए थे। हमारे लोगों ने उनकी सेना बनवाई। उनका राज कायम किया। पर हम वैसे

के वैसे ही रहे। कांशीराम जैसे लोग चक्रीय गति के तहत वही अंबेडकर की ही बात दोहरा रहे हैं। देश में 1947-48 से जो चला आ रहा है, वही चलता चला जा देते हैं। आर. के. पाटिल कहते थे कि शिकायत क्या? अंग्रेजों से जो चढ़ती कंपनी (ग्राइंग कन्सर्न) हाथ में लिया था, उसे चला रहे हैं। कुछ भूलें हुई होंगी, पर कुछ खास तो नहीं। 1933 में वर्णाश्रम स्वराज्य संघ के लोग ब्रिटेन गए। वहां एम.ए. जयकर कहते हैं कि आजादी इसलिए जरूरी है कि जब तक हम अपना राज्य कायम नहीं करते तब तक तरक्की नहीं कर सकते। अपने समाज की कुरीतियाँ दूर नहीं कर सकते। जयकर के पहले भी बहुत से लोगों ने यही बात कही होगी। तो यह मॉडल तो पश्चिमीकरण का ही है। आजाद भारत के कर्णधारों ने यही मॉडल तो चुना। जयकर ने संस्मरण लिखा है 1926 तक का। वे महाराष्ट्र के एक गांव में जाते हैं और लिखते हैं कि यह गांव उतना ही सुंदर है जैसे कि स्कॉटलैंड का कोई गांव हो। तो उपमा के लिए उन्हें स्कॉटलैंड ही मिलता है। यह मानसिकता ही कुछ ऐसी बन गई है। इस मानसिकता में जिस भावना को हम भारतीयता कहते हैं, वह कुछ जमती नहीं। ठीक-ठीक परिभाषित नहीं है यह, पर भावना तो है और खत्म नहीं होती। जबकि यूरोप में इस किस्म की भावना खत्म हुई। वहां मार-काट बहुत हुई। नए-नए आक्रमणकारी आते रहे, बसते रहे, पिटते रहे। समूह नहीं बने। ऑटोमेशन हुआ। प्लेटो ने तो यहाँ तक कहा कि बच्चे को अपने पिता का पता नहीं लगना चाहिए। नहीं तो परिवार समूह ही बन जाएगा। अरस्तू कहते हैं कि गुलाम काम करने के लिए रखे जाते हैं। काम करने वाली कोई मशीन हो तो फिर गुलामों की जरूरत नहीं रहेगी। तो मशीन का विचार उनके दिमाग में तभी आ गया। तो पश्चिमी समाज का तरीका, उनकी विचार पद्धति कुछ और है। वह एक अलग मॉडल है। हमारा अंग्रेजीदाँ वर्ग उसी पर लट्टू रहा है।

कांशीराम जैसे लोगों को लेकर देश के एक हिस्से में जो चिंताएं जाहिर की जा रही हैं, उनका क्या ? चंद्रशेखर इशारा करते हैं कि वे भारत को तोड़नेवाली ताकतों से मिलीभगत में हैं। अशोक सिंघल ईसाई मिशनरियों की मिलीभगत की बात करते रहे हैं। यह इतना बड़ा संशय क्यों ?

हो सकता है कि कोई वैसी साजिश हो। पर इन बातों की शुरुआत विदेशी साजिश से नहीं होती। शुरुआत तो अपने समाज की जो शक्तियाँ हैं, जो ऐतिहासिक कारण हैं, उनके संघर्ष से होती है। बाद में उसका चाहे जो इस्तेमाल करे। अगर अंबेडकर की बात ही कांशीराम भी कहते हैं और कई

दूसरे इतिहासकार भी, तो शायद समाज के एक हिस्से के मन में यह बैठा है कि जिस समाज में अपनी हिस्सेदारी नहीं है, वह टूटे भी तो क्या ? भीतर से तो नहीं, तो शायद कोई बाहर से ही आकर उद्धार करे। मुद्दा कोई व्यक्ति नहीं है। मुद्दा बहुत गहरा है। कई प्रतीकों, बिंबों, मान्यताओं में समाज में एका है। पर कइयों पर समझौता नहीं है। समाज कहीं से जुड़ा है तो कहीं से बंटा है। और जो आदमी का रचा विधान है, वह छोटे-बड़े चक्र में घूम रहा है। एक अपरिहार्यता की तरह। हमने इतिहास से सबक नहीं लिया है। पहले हर बात को भगवान की लीला मान कर संतोष कर लिया जाता रहा होगा। अब सब कुछ रेखीय दृष्टि से देखने की बात है। पर हमने उस हिसाब की संरचना नहीं बनाई है।

अंबेडकर और कांशीराम इसलिए एक ही बात करते हैं कि रिश्ते नहीं बदलते। या रिश्ते बदले हैं, इसे नहीं दिखलाया जाता। आजाद इंडिया कम्पनी में अर्थिक बदलाव तो हुए हैं पर सामाजिक रिश्ते जस के तस हैं। अंबेडकर 1915-16 में हिंदुस्तान आते हैं। बड़ौदा में नौकरी मिलती है। पर रहने को घर नहीं मिलता। पहले दिन से ही कठिनाइयां शुरू हो जाती हैं। बहुत बार वे अपने समाज की कठिनाइयों को प्रतीक के तौर पर अपनी निजी कठिनाइयां बनाकर बताते हैं। अपने बचपन की दिक्कतें तो शायद उन्हें याद भी नहीं। पर वे अपने समाज के लिये खड़े होते हैं। 1940 तक तो बखूबी। और शायद 1946 तक भी। अपने समाज के साथ जुड़े होने की बात वे छिपाते नहीं। उन्होंने कहा कि बाकी भारत का वे क्या करेंगे ? काहे को सोचें उसकी ? उन्हें तो अपने लोगों को बचाना है। तो अपने लोगों को बचाने में उन्हें अगर मोहम्मद तुगलक की बजाय जापान की मदद लेनी हो तो लेंगे। क्यों नहीं लेंगे ?

कांशीराम जैसों के भारत के मान्य प्रतीकों को गिराने से क्या देश टूट की ओर नहीं बढ़ेगा ? मुझे लगता है कि यह व्यवस्था टूट रही है, संरचना टूट रही है, इसलिए कुछ लोगों को देश टूटने का वहम हो सकता है। व्यवस्था की टूट को वे देश की टूट मान लेते हैं। इस तरह के हर चक्र की सीमा भी होती है। गांधी अंबेडकर के दायरे और उनकी मजबूरियों को भी जानते थे। इतिहास की धारा से दोनों ही अनजान नहीं थे। पर उनकी बुनियादी चिंताएं अलग थीं। 1946 में गांधी पटेल को अंबेडकर के बारे में लिखते हैं कि अंबेडकर सत्य-असत्य का फर्क नहीं मानते। पर यह भी कहते हैं कि उनसे बात जारी रखना। बातचीत तोड़ना नहीं। अंबेडकर के पत्ता (राजनैतिक) बनने के प्रति भी वे सतर्क हैं। और उसकी काट करते रहते हैं। राजनीतिक और सामाजिक दोनों धरातल पर। अंबेडकर के 1942 तक के जो बयान हैं या उन्होंने सेक्रेटरी आफ

स्टेट को जो 40-50 पेज का ज्ञापन भेजा, उस पर सेक्रेटरी आफ स्टेट ने वाइसराय को लिखा कि अब तक हमारे पास मुस्लिम पत्ता था। अब यह एक और पत्ता है। हालांकि हाशिए में अंडर सेक्रेटरी ने गोद दिया कि यह पत्ता बहुत कमजोर है। गांधी ने इसे पहले ही काट दिया है। यह जरूर है कि हाशिए में लिखी बात वाइसराय तक नहीं पहुंचाई गई। सीमाएं थीं। दो महीने बाद ही सेक्रेटरी आफ स्टेट फिर नोट भेजते हैं कि अंबेडकर खुद तो काबिल आदमी हैं। पर उनके साथ के लोग बस यूं ही हैं। ये लोग मुसलमान या ईसाई बन गए होते हो इनकी कुछ मदद की जा सकती थी।

तो क्या जो काम तब नहीं हो सका, वह काम आज दूसरों की नजर में नहीं होगा ? ऐसी सामाजिक कमजोरियों पर बाहरी ताकतों की नजर तो होती ही है। पर नजर होना भर एक बात है। असली बात समाज की अंदरूनी मनः स्थिति की है। जिस तरह कांशीराम अपने समाज के उद्धार के लिए महमूद गजनवी को याद कर सकते हैं, उस तरह का काम समाज के दूसरे हिस्से भी कर सकते हैं। सामाजिक संरचना ने एक खास किस्म की मानसिकता बना दी है। यह मानसिकता खाली अंबेडकर की नहीं है। ब्राह्मणों और दूसरे लोगों ने भी ऐसा किया है। मद्रास और बंगाल में तो जरूर ही। 18 वीं शती आते-आते उन्हें जब लगा कि हम हार गए तो फिर अंग्रेजों के साथ कोलेबोरेशन (सहयोग) तय किया गया।

यह सहयोग बहुत भिन्न नहीं था। कांशीराम जैसों के कहने का तरीका भौंडा है। उनका सलीकेदार रहा। कांशीराम सार्वजनिक जीवन में ज्यादा नहीं रहे न, इसलिए भोंडेपन से बोल देते हैं। कुछ वर्षों में वे भी बोलने और करने की चालाकी सीख जाएंगे।

जारी हैं गांधी पर नेहरू के हमले

क्या अंग्रेजों ने भारत के बौद्धिक वर्ग के पश्चिमीकरण को अपने सुरक्षा कवच की तरह इस्तेमाल किया और जब सत्ता देने की बारी भी आई तो सत्ता उन हाथों में ही सौंपी गई जो पश्चिमपरस्त थे और जिनको अपने देश के विकास के लिए स्वदेशी मॉडल बनाने में कोई रुचि नहीं थी? क्या सत्ता हस्तांतरण को भी औजार के रूप में इस्तेमाल किया गया और नेहरू इस काम में अंग्रेजों के नजदीकी मददगार बने, पर सत्ता और सत्ता को संभाल सकने की जो बुनियादी चतुराई उनमें थी, उसने उनको बेनकाब नहीं होने दिया?

अंग्रेजों ने भारत के बौद्धिक वर्ग का राजनैतिक इस्तेमाल किया। 1920 में 'सेक्रेटरी आफ स्टेट्स' ने वाइसराय को लिखा कि जमींदार वर्ग पर बचाव का भरोसा मत रखो। इस काम में बौद्धिक वर्ग को लगाओ। बौद्धिक वर्ग से यह काम 18 वीं सदी के उत्तरार्ध से ही लिया गया होगा। इस देश की आम जनता का जो रुख था, उसे देखते हुए अंग्रेज इस देश में अपने निजाम की सुरक्षा के बारे में कभी आश्वस्त नहीं थे। मेटकाफ भारत में इंग्लैंड से अंग्रेजों को बड़ी संख्या में लाने की सिफारिश करते हुए ये कहता है कि "यह ठीक है कि यहां के लोग स्वामिभक्त हैं। पर भरोसे में मत रहिए। हवा का रुख बदला तो स्वामिभक्ति का चोला उतर जाएगा और हमारी खैर नहीं"। 1920 के बाद तो ऐसा हुआ कि जितने राजनैतिक वर्ग और धाराएं थीं, अंग्रेजों की कोशिश उन सबमें अंग्रेजियत माननेवाले लोगों को दाखिल कराने और जमाने की रही। जिनको जरूरत पड़ने पर पीटा भी जा सके, पर जिनके साथ बैठकर चाय भी पी जा सके। आखिर मोतीलाल नेहरू गवर्नर के साथ टेनिस खेलते थे न। कुछ उसी तरह का मामला। जरा 1942 में भी देख लीजिए। अगस्त 1942 में ब्रिटेन सरकार के एक मंत्री को रुजवेल्ट समझाते हैं कि सत्ता हस्तांतरण का वक्त तो ब्रिटेन को ही तय करना है। पर उसे यह भी तय करना चाहिए कि आजादी के बाद भारत पश्चिम के असर में रहे। चीन के विदेश मंत्री ने भारत को एशियाई राष्ट्र कहा है। रुजवेल्ट उसे चुनौती देते हैं कि नहीं, भारत के लोग यूरोपीय समुदाय के हैं। हमारे कजिन (चचेरे भाई) हैं। यह रिश्तेदारी हमारे पढ़े-लिखे लोगों के मन में बहुत दिनों से समाई थी। जिनकी संख्या लगातार बढ़ी थी। नीरद चौधरी

वगैरह यही चचेरे भाई हैं न।

लेकिन स्वदेशी और भारतीयता को प्रतिष्ठित करने में महात्मा गांधी कहां मात खा गए? उनसे चूक कहां हुई? इसके बारे में मुझे लगता है कि 18 वीं शती के उत्तरार्ध में देश के अंग्रेजीदां पांच फीसदी लोगों ने जो राजनीति शुरू की, उसके केंद्र में सत्ता में भागीदारी की मांग तो थी ही, साथ ही अंग्रेज और अंग्रेजियत को अपने से बड़ा माना गया था। मान लिया गया था कि हम लोग तो हजार साल से ज्यादा समय से गुलाम ही हैं। दूसरों पर निर्भर ही रहे हैं। भागीदारी की मांग में कमतर होने की स्वीकृति भी थी। इस वर्ग को महात्मा गांधी ने 1920 में राजनीति की मुख्यधारा से बाहर कर दिया। कुछ अंडरग्राउंड हो गए। कुछ सार्वजनिक जीवन से हट गए। कुछ उदारतावादी हो गए। पर ज्यादातर लोग कांग्रेस में ही बने रहे। गांधी की शक्ति और चमक से वह डरे। कुछ ने यह भी सोचा होगा कि चलो, कुछ देर तक चलने दो यह चमक। कुछ में भक्तिभाव भी पैदा हुआ होगा कि शायद गांधी ही सही सोच रहे हों। 1940 तक वे किनारे पर रहे। पर उसके बाद उन्होंने गांधी को अलग ठेल दिया। इन तत्वों के सामने गांधी की मजबूरी का जरा अंदाज लगाइए। सुशीला नायर की डायरी में है। 1943 में गांधी जी जेल गए तो कहते थे कि जल्दी ही छूट कर बाहर जाऊंगा। फिर वे कहने लगे कि नहीं, अब सात साल जेल में ही रहूंगा। 1944 में तो वे बाहर आने के लिए तैयार नहीं थे। आगे का फैसला लेने में उन्हें दो-तीन महीने लग गए। गांधी की ऐसी प्रोग्रामिंग भी थी। वे ऐसा करते थे। और अहमदनगर जेल में नेहरू उनके लिये क्या सोच रहे थे। यही कि अब एक और उपवास हो जायेगा। नेहरू के दिमाग में पिछले को देख-देख कर यही बना था गांधी का मॉडल। 1943-44 में अपने अलग-थलग पड़ जाने का आभास केवल गांधी को ही नहीं रहा, दूसरों को भी हो गया। अंग्रेजीदां लोग गांधी को उनकी महानता से तो बेदखल नहीं कर सके, पर वास्तविक अर्थों में गांधी की बेदखली हो गई।

इसी के साथ स्वदेशी की कड़ी भी शक्तिहीन हो गई। पर क्यों?

महात्मा गांधी का अपना खड़ा किया कांग्रेस का ढांचा भी इस काम के लिए माकूल नहीं था। 1920 में कांग्रेस के ढांचे का ड्राफ्ट गांधीजी ने खुद बनाया। ढांचा यह है कि नीचे मेंबरशिप है। फिर जिला, फिर प्रदेश, फिर अखिल भारतीय समिति है। फिर अध्यक्ष है। अंतिम फैसले की ताकत ऊपर है। उसी में नीचे वालों की राय भी मान ली जाती है। देश नीचे है और उसकी लीडरशिप ऊपर। सरकार का मॉडल ही कांग्रेस का भी मॉडल हो गया। वही कलेक्टर, कमिशनर,

गवर्नर मॉडल। गांधीजी को शायद लगा कि अंग्रेजों से लड़ाई उनके जैसा केंद्रित मॉडल बनाकर ही लड़ी जा सकती है। तो वैसा ही मॉडल बना तो उसे चलाने के लिए वैसे ही लोग भी आगे रखने थे।

इस युद्ध में नेहरू पश्चिमी मॉडल के प्रतीक हैं। गांधी भी उन्हें ऐसा ही मानते हैं। पर यह भी मानते हैं कि नेहरू को मोड़ा जा सकता है। वे सोचते हैं कि पश्चिमी मॉडल को हराने के लिए इस नेहरू को जीतना है। इसे जीत लिया तो फिर सबको जीत लिया। उन्हें अपनी जीत का भरोसा भी होता है। पर यह जीत वे हासिल नहीं कर पाते। गांधी अंतरराष्ट्रीय ताकतों के दखल को भी ठीक से समझ नहीं पाए। यह मान कर चलते रहे कि उनकी कोई दखलंदाजी नहीं होगी और सब कुछ आपस में सुलटने के लिए जस का तस स्थिर रहेगा। पर 1944 के बाद तो इन ताकतों ने गांधीजी को हाशिए पर ठेल दिया।

नेहरू ? 1945 में तो नेहरू ने साफ कहा कि गांधी के स्वदेशी राग को उन्होंने कभी विचार के लायक भी नहीं माना। कांग्रेस ने भी स्वदेशी की बातचीत 1937 में ही छोड़ दी थी। नेहरू तब तक बड़े नेता बन चुके थे। गांधी मूल में सभ्यता का संघर्ष तो लड़ रहे थे, पर उनका मूल प्रश्न पहले आजादी हासिल करने का था। उन्हें समझौते करके चलना पड़ता था। उनकी मजबूरी उस सेनापति की मजबूरी थी, जो अपनी सेना की टूट नहीं चाहता। वे सोचते थे कि युद्ध में सबको साथ लेकर चलो। आजादी मिली तो फिर सब कुछ संभल जाएगा। उन्होंने पश्चिमपरस्त लोगों और उनके नेता नेहरू को संतुलित करने के लिए कोशिशें कम नहीं कीं। गांधी सेवा संघ बनाया गया। संघ पश्चिमपरस्त तबके के खिलाफ दबाव बनाने का साधन था। 1938 में नेहरू जब विदेश जा रहे थे तो उन्होंने संघ के खिलाफ हमले का बिगुल बजाया कि संघ राजनीति कर रहा है। फिर सुभाष चंद्र बोस लाबी मजबूत बनी तो महात्मा गांधी को 1940 में संघ को सस्पेंड करना पड़ा। विसर्जित उन्होंने नहीं किया। कहा कि फिर जिंदा करने की जरूरत पड़ सकती है। गांधी पर सबसे बड़ा दबाव तो टैगोर का पड़ता था। सुभाष नेशनल प्लानिंग कमेटी गठित करना और नेहरू को उसका अध्यक्ष बनाना चाहते थे। तो मेघनाद साहा जुटे। टैगोर से बात हुई। टैगोर ने गांधी को मनाया। नेहरू अध्यक्ष बने। नतीजतन विकास का पश्चिमी मॉडल कांग्रेस के नीति मॉडल में हावी हो गया। और गांधीजी ने नेहरू को अपना उत्तराधिकारी ही कौन-सा घोषित किया। 1940 की कांग्रेस कार्यसमिति में गांधी बोस वगैरह के खिलाफ अपने लोगों की एकतरफा जीत चाहते हैं। नेहरू समर्थक एक तिहाई हैं। तो समर्थन लेने के लिए बातचीत में कह देते हैं कि मेरा

उत्तराधिकार तो नेहरू को ही मिलेगा। असली खेल बाद में हुआ। कुछ दिनों बाद अखबारवाले गांधी के पास पहुंचते हैं। और उनसे सवाल पूछ-पूछ कर मुंह से निकली बात को कबूलवाया जाता है। बात रिकार्ड में ला दी जाती है। नेहरू इसे गांठ में बांध लेते हैं। और जब वक्त पड़ता है तब यह बात 1944 में उछालकर सामने ला दी जाती है।

महात्मा गांधी जब ताकत में रहते हैं, उनके सामने सब कुछ दबा रहता है। पर ताकत कम होते ही मामला उलट जाता है। 1927 में नेहरू विदेश प्रवास से लौटकर आते हैं तो उनको आगे कर आजादी का प्रस्ताव पास किया जाता है। आजाद रूप से। इसमें गांधीजी के स्वदेशी, स्वराज आदि के संदर्भों में उन्होंने 1920 से जो कुछ किया, उसको चुनौती है। गांधी चौंकते हैं। और फिर जरूरी 1928 में एक-दूसरे को चिट्ठियां लिखी जाती हैं। गांधी आर-पार लड़ाई की चुनौती दे डालते हैं। आजादी बनाम स्वराज का लेख लिखते हैं। जानते हैं कि आज कौन लड़ेगा। सबक सिखा रहे हैं। और मामला वहीं खत्म कर देते हैं। पर दूसरे ? दो टूक शब्दों में कहूं तो नेहरू और उनके लोगों ने पिछले 50 साल में गांधी के साथ चौतरफा बदला लिया है। उन पर गिन-गिन कर अनगिनत हमले किए हैं। उन्हें अपमानित करने की कोई चेष्टा नहीं छोड़ी है। गांधी से उनका युद्ध अभी भी जारी है।

हिंदुस्तानी तासीर दफनाने के लिए अंग्रेजों ने बनवाई कांग्रेस

स्वदेशी और स्वदेश को जानने—समझने के लिए क्या पिछली दो—तीन सदियों के इतिहास को उघाड़ने की फौरी जरूरत है ? लेकिन अगर इस काम से एक से एक मूर्धन्य महापुरुषों का मानमंजन हो गया तो?

मुझे इस काम से कोई एतराज नहीं है। बल्कि देश में बेहतर मानवीय, समाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संबंध कायम करने के लिए मैं इसे जरूरी मानता हूं। कहाँ थी कुचाल ? लॉर्ड विलियम 1830 में कहता है कि हमारे प्रयासों का भारतीयों पर असर तो पड़ा है। लोगों ने अंग्रेजियत अपनाई है। उनकी परंपराएं टूटी हैं। अंग्रेजीदाँ वर्ग में पैसा यूरोपीय तर्ज के मनोरंजनों पर बहाया जा रहा है। 1870 आते-आते यह अंग्रेजीदाँ वर्ग इस बात के लिए अकुलाने लगा कि जब हम अंग्रेजों की तरह रहना जानते हैं, उन्हीं की तरह अंग्रेजी बोल लेते हैं, राजनीति और दर्शन वगैरह पर भी बात कर लेते हैं, तो फिर वे हमें थोड़ा बराबरी का दर्जा क्यों नहीं देते ? रिचर्ड टेंपुल 1880-82 में कहता है कि इन लोगों को कानून वगैरह पढ़ा देने से ऐसा हुआ है। थोड़े होशियार हुए हैं तो होशियारी दिखा रहे हैं और बराबरी की मांग करते हैं। अब इन्हें जरा विज्ञान की झलक दिखानी चाहिये, जिससे यह लोग हमारी बौद्धिक दासता स्वीकार करें।

भारतीय तासीर का अंग्रेजी शासन और अंग्रेजियत के खिलाफ मौलिक विरोध के रूप में 1870 के आसपास उत्तर प्रदेश और बिहार में गौहत्या के खिलाफ जबरदस्त जन आंदोलन उठ खड़ा हुआ। तत्कालीन वाइसराय के मुताबिक इसकी ताकत 1857 के स्वाधीनता संग्राम जैसी ही थी। रानी उसे चिट्ठी भेज कर सावधान रहने को कहती हैं कि आंदोलन हमारे ही खिलाफ है, मुसलमानों के खिलाफ नहीं। गोमांस हम अंग्रेज ही ज्यादा खाते हैं। देश के दूसरे हिस्सों में भी इस तरह के दूसरे देशी विरोध उठ रहे थे। इसे मोड़ कर नष्ट करने और अंग्रेजीदाँ वर्ग में उठी बराबरी की मांग को संतोष देने के लिए ही कांग्रेस का जन्म हुआ। स्वदेशी को खत्म करना तो कांग्रेस के गर्भनाल में है।

अंग्रेजों की श्रेष्ठता मान लेने से बौद्धिक वर्ग ने अंग्रेजों का काम ही आसान किया। अंग्रेजों ने अपने राज्य को वैधता देने के सिलसिले में भारत के हजार साल से गुलाम रहने का रड्डा खड़ा कर दिया। कब था भारत हजार साल से गुलाम ? गजनबी वगैरह तो लूट के लिए आए। मुसलमानों का कब्जा तो 1200 से शुरू हुआ। लेकिन कितनी दूर ? उत्तर भारत के कुछ हिस्सों में। वह भी पाकेट्स में। ऐसा नहीं था कि साग-बथुए की तरह यहां के लोग दब गए थे और मुस्लिम निजाम चारों ओर पसर गया था। मुसलमानों को अंग्रेजों की तरह जिला-जिला पहुँच कर प्रशासन की सीढ़ी बनाना नहीं आता था। इसे अंत तक देखें। हिंदुस्तान कोई मुसलमानों के हाथ से अंग्रेजों के हाथ में नहीं गया। हिंदुओं के हाथ से गया। मराठों ने दिया। बंगाल के राजाओं ने दिया। सिराजुद्दौला वगैरह की तो नाम मात्र की सत्ता थी।

फिर अंग्रेजों ने हमें अपने नजदीकी समयबोध से भी काट दिया। जैसे हिंदुस्तान में 2000-3000 साल की अवधि में सामाजिक संरचनाओं का समय के मुताबिक कोई विकास ही नहीं हुआ। पुराणों, उपनिषदों और संहिताओं से उदाहरण ढूँढ़ कर हमारी अठारहवीं सदी का फैसला होने लगा। भारतीय धर्मशास्त्रों के कमाल-कमाल के विशेषज्ञ निकल आये। यह साबित किया जाने लगा कि मनुस्मृति में वर्णित वर्णाश्रम धर्म ही समाज का मानक है। मनु उभार कर सामने लाए गए तो दलित आशंकाएं भी उभरीं। अठारहवीं सदी के हिंदुस्तानी समाज की क्या कोई तस्वीर नहीं थी ? थी। शोध साबित करते हैं कि उन बुरे दिनों में भी हिंदुस्तानी मजदूर की मजदूरी इंग्लैंड में दी जा रही मजदूरी से ज्यादा थी। बंगाल पर पूरे कब्जे के बाद 1765 में सवाल उठा कि किसानों से मालगुजारी क्या ली जाए ? ये किसान तब छटा-आठवां हिस्सा ही देते थे। जबकि इंग्लैंड में तब के बंटाईदार जमींदार को आधा हिस्सा देते थे। अब अंग्रेजों को वसूलना आधा है तो फिर उसके लिए चलो पुराने टैक्स्ट (TEXT) ढूँढ़ो। तो अलाउद्दीन खिलजी के जमाने में पहुंचते हैं। वहां सवाल-जवाब में सलाहकार खिलजी को बता रहे हैं कि गैरमुसलामान से राजा उत्पाद का 50 फीसदी हिस्सा भी कर में ले लें तो गलत नहीं है। खिलजी का यह सवाल-जवाब प्रमाण बना दिया गया। यह कह कर के कि जब अच्छा प्रशासन होता है तो लोग 50 फीसदी कर देते हैं। अब तक छटा-आठवां हिस्सा इसलिए देते थे कि अब तक अच्छा प्रशासन नहीं था। 1780-85 में बनारस में एक ब्राह्मण पर हत्या का इलजाम लगा। यह कुछ धरने वगैरह में हुई मौत थी। काफी पहले से हमारे यहाँ इस प्रकार के दण्डों के लिये काला टीका करके देश निकाला देने का रिवाज था। मामला कलकत्ता जाता है। विलियम जोन्स के पास। वे भारतीय धर्मशास्त्र के विशेषज्ञ हैं न ! वे वह सब जानते हैं जो इस देश के धर्मशास्त्री नहीं जानते ! तो

वे बताते हैं कि नहीं, इनके यहां तो ऐसे मामले में तप्त लोहे से दागे जाने का रिवाज है। काले टीके की बात उन्हें इसलिए नहीं जमती कि उस समय इंग्लैंड में गरम लोहे से दाग कर सजा देने का आम रिवाज था। वे उसकी बराबरी की सजा दूँद रहे हैं। तो अपने हिसाब से करने के लिए पीछे, और पीछे, और पीछे चलने का मॉडल बना दिया गया। बहुत मजबूत था यह मॉडल। जे पी और लोहिया से मेरी कई बार इस सिलसिले में बातें हुई। अंग्रेजों के इस खेल को भांपते थे वे। पर जब मंच पर चढ़ जाते थे तो फिर पहले ही वाक्य से वहीं शुरू हो जाते थे— हजारों साल पुरानी सभ्यता है हमारी। और फिर वहीं हजारों साल पहले ठहर कर रह जाते थे हम।

क्या था अंग्रेजों के जमाने के अठारहवीं सदी के भारत का नक्शा?
यह दलित (डिप्रेसड) समाज तो अंग्रेजों का किया वर्गीकरण है। हमारे यहां तो अलग-अलग जातियां थीं और उनके अलग-अलग रीति-रिवाज थे। दलित वर्ग कहां से निकला, इस बारे में अंबेडकर लिखते हैं कि मुसलमानों का एक प्रतिनिधिमंडल अंग्रेजों से मिला था। उसने कहा कि हिंदू अछूत, दलित और सवर्ण—तीन खाने में है। इसलिये मुसलमान को आबादी के गणित में हिंदुओं के बराबर ही माना जाना चाहिए। 1911 की जनगणना में अंग्रेजों ने इस वर्गीकरण को ठूस दिया। 1916-17 में शिक्षा पर हुए किसी सम्मेलन में सामाजिक-शैक्षणिक पिछड़ेपन की चर्चा उठी। तो बाद की जनगणना में अछूतों और कुछ दलितों को मिलाकर अनुसूचित जाति का एक वर्ग बना दिया गया। जबकि 18 वीं सदी के भारत में 5-7 से ज्यादा जातियां अछूत नहीं थीं। चमार तो अछूत नहीं ही थे। 1931 की जनगणना में उनकी आबादी ब्राह्मणों के बराबर है। और जातिवार यही दोनों सबसे बड़े आबादी समूह हैं। कुछ चांडाल, भंगी, मेहतर ही अछूत थे। फिर 1800 तक जातियों में परस्पर पिछड़ापन कोई ज्यादा नहीं था। शादी-ब्याह के दायरे सबके अपने-अपने थे। पर समाज में सबकी स्थिति तकरीबन बराबर की थी और व्यवस्था में हरेक की हिस्सेदारी थी। दक्षिण भारत में तो गांव के झगड़े तय करने का काम पेरियार का ही था। उसके न्याय को चुनौती नहीं दी जा सकती थी। गांव की सुरक्षा का जिम्मा महारों का था। 18 वीं सदी में इनके घरों का घेरा देखिए तो वह किसी और हिंदू के घर से कम नहीं है। बल्कि कहीं-कहीं ज्यादा भी है। खेती भी है उनके पास। इसे कहिए तो लोगों को बड़ा झटका लगता है। मैंने जाँचा कि दक्षिण में 18 वीं सदी में कुल शिक्षितों में 80 फीसदी गैरब्राह्मण हैं। इस पर नानाजी देशमुख को यकीन नहीं हुआ। वे कहने लगे कि ऐसा कैसे हो सकता है? और दलित नेता भी इसे कैसे मानेंगे? उन्हें

किसी ने यह बताया ही नहीं।

अपना नियंत्रण खत्म हुआ तो न स्वायत्तता रहेगी न स्वावलंबन

क्या राजनीति और सबको साथ लेकर चलने की मजबूरियों के अलावा भी गांधी किसी ऐसे कारण से मजबूर थे कि स्वदेशी वृक्ष के लिए कोई ऐसा थाला नहीं बन सका, जिसे नेहरू जैसे लोग मिटा न पाते, और वृक्ष पनपता-बढ़ता चला जाता? जिसे उनके बाद सर्वोदयी, गांधीवादी, समतावादी, समाजवादी, मानवतावादी, राष्ट्रवादी आदि-आदि सब मिलकर संभाल लेते, और आज भारत की एक नई तसवीर बनी होती?

गांधी की गांव की कल्पना उधार की है और किताबी है। मेटकाफ जैसे का लिखा पढ़ कर ही उन्होंने भारत के गांव जाने हैं। और यह जो पढ़ा-लिखा है, वह बहुत महत्व का नहीं है। पर उनकी अंतर्दृष्टि विलक्षण है और हर पढ़े-लिखे-देखे को जोड़-जाड़कर चमका देती है। 1891 में वे लंदन की एक गोष्ठी में जाते हैं तो हिंदुस्तान के लिए नमक के महत्व का मुद्दा उठाते हैं। फिर बताते हैं कि गाय की वहां पूजा होती है। उसका मारा जाना ठीक नहीं। यह बात अंतर्दृष्टि से ही उठ रही है। बाद में वे इन्हीं बातों का विस्तार करते हैं। नेटाल कांग्रेस की ओर से दिए गए ज्ञापन में वे दक्षिण अफ्रीका के हिंदुस्तानियों की बाबत कहते हैं कि ये महान लोग हैं। हजारों साल पुरानी सभ्यता के हिस्से। वही हजारों साल पुरानी सभ्यता। तो तुरंत का बीता तो यहाँ भी लोप हो जाता है। लिहाजा स्वदेशी की जो अवधारणा या कार्य रेखा बनती है, ढेर सारी चीजों को बटोर कर अंग्रेजों के सामने तो, वह एक बड़ी ताकतवर चीज के रूप में रख दी जाती है, उसका एक ढाँचा भी खड़ा कर दिया जाता है, पर मामला ऊपर ही ऊपर है, जड़ें नदारद हैं। ताश के पत्तों का एक ऐसा महल बनता है, जिसे तो गिरना ही था।

नतीजा—स्वदेशी की अवधारणा को 'गांधी के वे अनुयाई भी नहीं चला पाए,' जिनके पास सतही लिबास भी था और गांधी का बनाया ढाँचा भी। बस रूटीन में मंत्र की तरह स्वदेशी का जाप होता रहा। स्वदेशी की चेतना भूत, भविष्य और वर्तमान से ठीक से जोड़ी नहीं गई। विनोबा ने समुदाय की, ग्रामदान की बात की। तो पहले क्या होता था? अपने यहाँ तो समुदाय के कुछ

गांव होते ही थे। 1964 में तंजोर में लोगों ने बताया कि उनके यहाँ 100 समुदाय गांव तो आज भी हैं। स्वदेशी की अभिव्यक्ति तो राजनीति में होनी थी। हम लोग तो उसकी आर्थिक अभिव्यक्ति करने में ही लग गए और मारे गए। स्वदेशी यानी वही कुछ कपड़ा-वपड़ा। कुछ तेल-वेल, खाने-वाने की बातें। इसमें तंत्र, व्यवस्था, मर्यादा पर — प्राथमिकताओं पर बात नहीं थी। स्वदेशी तो प्राथमिकताएं होती हैं। वे तय होंगी, तो उन्हें कैसे पूरा करना है, इसका रास्ता बनेगा। इस काम के लिए कुछ उधार भी लेना होता तो लेकर उसे अपने में मिला लेते। उसका स्वदेशीकरण हो जाता। 1905 की स्वदेशी की बंगाल वाली विचारधारा सतह पर ही थी। नीचे धँसती तो बहस होती। अरविंद जैसे लोग कुछ सैद्धांतिक व्याख्या कर गए। बस।

स्वदेशी क्या हो, इसे तय करने के लिए राज्य और समाज कैसे व्यवस्थित हो, इस सवाल पर जाना होगा। इनके आपसी रिश्ते क्या हों, और इनके मूलाधार क्या हों, यह तय करना होगा। अपने यहाँ जातियाँ ही नहीं रहीं, उनमें अंदरूनी विभाजन भी जोर का रहा है। 1911 की जनगणना में पंजाब में 1700 खानों में जाट बँटे हैं। ये शायद 1700 कुल रहे होंगे। यह कुल प्राथमिक इकाई रही है परिवार नहीं, कुल। फैसले इसी इकाई में होते हैं। ये कुल इकट्ठा होते हैं तो कुछ संघीय-सा संयोजक ढांचा बनता है। इस ढांचे में फैसलों की प्रक्रिया कई स्तरों में रही होगी। 100-200-500 साल पहले के कुलों की रक्षा, विदेशी नीति आदि की जरूरतें दूसरी थीं। आज हमारी जरूरतें दूसरी हैं। पर इस बात की सोच नहीं बढ़ी। यह मानने की आदत से कि भारत ऐसा रहा है और ऐसा ही रहेगा। फिर छोटे समूह में रहने की आदत थी। ढेर सारे कुल थे। गुरु की चेलहाई के आधार पर। पंथ के आधार पर। पर यह नहीं कि इन कुलों का आपस में कोई संबंध नहीं है। आपस में शादी, ब्याह और खान-पान नहीं हैं पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे एक-दूसरे को छोटा मानते हैं। भिन्नता वहीं तक है। बाकी सब बातों के लिए लोग इकट्ठे होते होंगे और व्यवस्था का संचालन होता होगा।

फिर यह विभाजन कि लड़ने का काम केवल क्षत्रिय का है, आदि-आदि, तो यह बात मूल में नहीं रही होगी। मूल में तो लड़ाई के तंत्र में तमाम लोग लगे थे। इस बात को समझकर ही ढांचा बनाया जाना था। 1800 का भारत ऐसा ही था और वही अपने हिसाब की संरचनाएं बनाई गई होतीं तो दो-चार पीढ़ियों में स्वदेशीकरण हो जाता। यह आज भी हो सकता है। पर यह समझकर कि ज्यादातर लोगों का वास्ता भौतिक उन्नति से ही है। उन्हें वह चाहिए। और यह

दिया जा सकता है। दूसरे यह कि दुश्मन तो कभी खत्म होते नहीं। इनसे बचाव तो करना ही होगा। इस खाके में भौतिक ढांचे (उत्पादन वगैरह) की बात चलती तो कहीं पहुंचा जा सकता था। स्वदेशी का वह जो ठेठ अर्थ है कि इलाके में बना सामान ही खरीदना चाहिए आदि-आदि, वह गिर जाता है। राजनीति और व्यवस्था उससे नहीं मिलती तो उसे सहारा नहीं मिलता। 1915-16 में महात्मा गांधी ने यह जो चरखे की बात पकड़ी तो गुजरात में उस वक्त चरखे का चलन नहीं रहा होगा। पर पंजाब वगैरह में तो 1850-60 तक चरखा खूब चलता ही था। भारतीय कपड़ा उद्योग पर जो शोध हुए हैं, वे यह नहीं कहते कि आर्थिक चुनौती से कपड़ा उद्योग हारा। हारा वह राजनैतिक पराजय से। उसकी वजह से लगे शुल्क (कर) से।

आज का उदारीकरण यदि देश के विकास की सुविचारित रणनीति के तौर पर हो रहा हो, पूरे मन से हो रहा हो तो इससे भी बेहतरी हो सकती है। 1950-60 में जापान इस रास्ते चला तो 5-10 साल बड़ी खलबली रही। पर उन्होंने सैन्यीकरण भी किया। आज उसने कई मायनों में अमेरिका को पछाड़ रखा है। विश्व बाजार की प्रक्रिया पर उसने महारत हासिल कर ली। यह महारत हमारा इरादा हो तो इस नई आर्थिक नीति के भी फल निकल सकते हैं। पर हम लोगों ने अपने लोगों को रद्दी मान लिया है, उसकी वजह से यह मानसिकता होगी, इसका भरोसा नहीं होता।

नई आर्थिक नीति के खिलाफ उठने वाली आवाजें बज नहीं रहीं। कारण विरोधियों के पास मुकम्मिल सोच नहीं है। अपना मॉडल नहीं है। लोग बहुराष्ट्रीय कंपनियों का विरोध कर रहे हैं। जैसे आजादी बचाओ आंदोलन है। जार्ज फर्नांडीज हैं, चंद्रशेखर हैं। तो ईस्ट इंडिया कंपनी क्या थी? बहुराष्ट्रीय ही थी न! यूरोप और पश्चिम तो ऐसी कंपनियों से ही चलता है। यही वहां का चलन है। क्या इसे नहीं समझना चाहिए? यदि चंद्रशेखर, जार्ज आदि-आदि के पास स्वदेशी की परिभाषा होती, उसका मॉडल होता तो बहस हो जाती और लोग सोचते। पर वह नहीं होगा। इसलिए कि व्यवस्था और तंत्र के स्वदेशीकरण की नहीं सोची गयी है। तय तो पहले प्राथमिकताएं की जानी चाहिए। फिर कुछ उधार भी लेना होता तो लेकर ढाला जाता। स्विच अपने हाथ में होगा तो उधार का भी स्वदेशीकरण हो जाएगा। अभी तो पश्चिम से हम सब कुछ पैकेज में ले रहे हैं।

इस बात की अनदेखी किए हुए कि उधार में लाई जा रही तकनीक और सिद्धांत की अपनी भी स्वायत्तता होती है। हमें तो अपनी जरूरत की चीजों

से ही सरोकार रखना था। चौथे दशक की नेशनल प्लानिंग की उपसमिति की वर्धा बैठक में गांधी जी ने कहा कि पहले उत्पादन का लक्ष्य तय किया जाए। फिर यह आपस में तय हो जाएगा कि कितना उत्पादन देशी तरीके से होना है और कितना औद्योगिक तरीके से। मामला बस इतना होगा कि संसाधन बाहर से नहीं आएंगे। दोनों क्षेत्र भीतर के ही संसाधन बरतेंगे। तो व्यवहार को मानक बनाएं तो कहीं कोई दिक्कत नहीं है। पर नियंत्रण अपना होना चाहिए। अपना नियंत्रण खत्म हुआ तो न स्वायत्तता रहेगी और न स्वावलंबन।

आम आदमी की ताकत पहचानने से ही बनेगा स्वदेशी माडल

गांधीजी खुद स्वदेशी का एक कच्चा—सा मॉडल बना पाये थे। पश्चिमी रंग में रंगे नेहरू के लिए तो इस कच्चे मॉडल को आगे बढ़ाने का सवाल ही नहीं था। इसलिए कांग्रेस में नेहरू के शक्तिशाली होते ही गांधीजी का यह कच्चा मॉडल भी धराशायी हो गया।

देश न स्वदेशी मॉडल पर दृढ़ रह सका और न विदेशी मॉडल अपना सका। और उसके हाथ में भीख का कटोरा ही है। इसके पीछे क्या कोई और कारण हैं? आजादी के बाद जवाहरलाल नेहरू और उन जैसे लोगों ने देश की आम जनता को फिर से उसी आत्महीनता की ओर ठेल दिया, जिस ओर विदेशी शासन उन्हें पहले ही ठेल चुका था। लोगों को बार—बार इस बात का अहसास कराया गया कि आप तो 200 साल पिछड़े हो। दरिद्र हो। कमजोर हो। बेकार हो। जो अच्छा है, और अच्छा हुआ है, वह तो पश्चिम में है। विदेशी शासन के दौरान देश को बचाए रखने के लिए अपने लोगों की तारीफ करने का तो सवाल ही नहीं रहा। नेहरू और उन जैसे लोग कभी इस बात के शुक्रगुजार नहीं रहे कि इन्हीं भुखे और दरिद्र लोगों ने अपनी हड्डियों को निचोड़—निचोड़ कर इस देश को बचाया है। इन्हीं की कुर्बानी के कारण गुलामी की जंजीरों के बीच भी यह देश बचा रहा है।

इतना ही नहीं, आजादी की लड़ाई में उमड़े जनसमुदाय को भी यह कह दिया गया कि जाइए, आपका काम पूरा हुआ। जाकर अपनी खेती—किसानी करिए। देश हमारे ऊपर छोड़ दीजिए। देश हम संभाल लेंगे। इस बात की कोई भावना नहीं रही कि आप सबने मिल कर बड़ा काम किया। कुछ विकृतियाँ आई हैं। आइए, उन्हें हम और आप मिल कर दूर कर लें। लोगों को एहसास कराया गया कि न्याय तो दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, चेन्नई, लखनऊ, पटना, भोपाल से ही हो सकता है। देश सेंट स्टीफेंस में पढ़े लोग ही चला सकते हैं। आम हिंदुस्तानी में वह मादा कहाँ। वह तो ड्राइंग रूम में ठीक से फर्नीचर रखना भी नहीं जानता। देश बनाने में उसकी चली तो वह तो देश को बरबाद करके ही रख देगा। 1920 तक तो इस देश के आम आदमी को हीन कहा ही जा रहा था। नेहरू ने लोगों में

वह हीनता फिर से भर दी। उनका यह सबसे बड़ा योगदान है कि उन्होंने लोगों के मन में यह बिठा दिया कि तुम दरिद्र हो। बेकार हो। नतीजा? गाँव में पंचायत भी बनेंगी तो उसे वह सुपरवाइजर चाहिए जो सब कुछ सरकारी जुबान में बदल कर रख दे।

जब तक हम इस खोए हुए आत्मविश्वास को फिर से वापस नहीं लाते तब तक न देश स्वदेशी चल सकता है और न विदेशी। चीजों को देखने का पूरा नजरिया ही बदल गया है। आज बहुत से लोग यह कहने में संकोच नहीं करते कि हिंदुस्तानी तो फैंकी हुई पालीथीन की थैली से भी नई थैली बना लेता है। यह कहने वालों की भी कमी नहीं है कि इसमें लगे लोग अच्छी तरह कमाई भी कर लेते हैं। पर वे यह नहीं देखते कि यह तो कंगाली का ही आलम है। ऐसा काम कोई प्रेम से नहीं किया जा रहा है। ये भंगार (कूड़ा-करकट) बीनने-बटोरने वाले कैसी जिंदगी जी रहे हैं, यह भी आंखों से ओझल कर दिया जाता है। हम यह भूल जाते हैं कि इससे जो चीज साबित होती है, वह यह है कि हमारे लोगों में जीवट अदम्य है। आम लोगों को हिकारत से देखने का नजरिया कलेक्टरों, ऊँचे वर्गों और राजनीतिकों में ही नहीं है, सेवाग्राम और पवनार जैसी ऊंची जगहों में भी आए नवयुवकों को यही सिखाया जाता है कि गांव वालों से ज्यादा संपर्क न करो। ये अच्छे लोग नहीं हैं। जरूरी नहीं कि यह मानसिकता अंग्रेजों की ही दी हुई हो। यह मानसिकता हमारी वर्णव्यवस्था और मनुवाद से भी निकली हुई हो सकती है। पर जब तक यह मानसिकता बरकरार है, तब तक देश का आम आदमी खड़ा नहीं हो सकता। और जब तक वह नहीं खड़ा होता, तब तक न तो स्वदेशी चल सकता है न विदेशी।

अपने को हीन देखने और अपनेपन को छोड़ने की यह बुराई क्रमशः विकसित हुई है। दरअसल, यह 500-600 साल पुरानी ही है। कमजोरी पहले भी रही होगी। पर जब तक अपने तरीके से काम चलता रहा, आक्रमणकारी आते रहे और इसी व्यवस्था में जातियों आदि के खाने में खपते रहे, मूल्यों पर कोई बड़ा आक्रमण नहीं हुआ, तब तक शिथिलता सामने नहीं आई। मुसलमानों का प्रभावी राज्य तो 1700 के आसपास ही खत्म हो गया। इसके बाद तो राजे-रजवाड़े जगह-जगह खड़े हो गए। देश को पुनर्जीवित करने की कोशिशें भी हुई। इस प्रकार की कोशिशें विजयनगर साम्राज्य ने की। मराठों ने भी की। चैतन्य जैसे लोगों ने किया। पर समय नहीं मिला। 1748 में तो यूरोप का बड़ा हमला ही देश पर हो गया। इस बीच 100 साल भी मिल गया होता तो भारत पश्चिम को उसी तरह समझ लेता जैसे जापान ने समझा। लोग बिलकुल ही सो

नहीं रहे थे। 1754-55 में बंगाल के नवाब अलीवर्दी खां कहते हैं कि ये यूरोपियन कहते तो यह हैं कि वे लड़ आपस में रहे हैं। पर कब्जा हमारी जमीन पर करते जा रहे हैं। और अंग्रेज तो इनमें सबसे खतरनाक हैं। तो हमारे लोगों में समझनेवालों की कमी नहीं थी पर उन्हें कुछ करने का वक्त नहीं मिल पाया।

अंग्रेजों ने राज्य मुसलमानों से नहीं छीना। राज उन्होंने इन हिंदू राजे-रजवाड़ों से ही छीना। पर उन्हें मुसलमानों से राज छीना दिखा कर अपने शासन के लिए वैधता कायम करनी थी। राजनीति में मुसलमान कोण घुसाना था। इसलिए बार-बार दिल्ली से राज लेने की बात कही गई। 1756 से पहले फारसी बंगाल की भाषा नहीं थी। कर वसूली में फारसी लिपि अंग्रेज लाए। मुस्लिम प्रतीकों को दक्षिण में मुसलमान भी नहीं ले जा सके थे। अंग्रेजों ने इन प्रतीकों को दक्षिण में भी कायम कर दिया। सर थामस रॉ जहांगीर के दरबार में आता है। और जहांगीर उससे कहता है कि सूरत वगैरह से पश्चिम में व्यापार के लिए जाने वाले हमारे जहाजों की आप रक्षा कीजिए। तो दिल्ली की बादशाहत तो उसी दिन खत्म हो गई। ऐसा इसलिए किया गया कि जहांगीर का भारत से लगाव नहीं था। तुम भी विदेशी और हम भी विदेशी। अकेले जहांगीर ही नहीं, ऐसे लोग और भी रहे हो सकते हैं। हमें समय मिलता तो हम भी सुधर जाते। 1855 में जापान को समर्पण करने का अमेरिकी अल्टीमेटम मिलता है। समर्पण करना पड़ता है। 10-15 साल वहां भी समाज में तूफान चलता है पर जापान पश्चिम के तरीके से सैन्यीकरण के रास्ते पर चलने का फैसला करता है। अपने लोगों को सीखने के लिए बाहर भेजता है। थोड़े समय के लिए प्रशिक्षण देने को बाहर के लोग बुलाए जाते हैं। और आज कई मामलों में वह अमरीका से आगे है। जापान की जीत पर गांधीजी बहुत खुश होते हैं। हिंसा-अहिंसा का सवाल नहीं उठाते। उसांस भरकर यही कहते हैं कि पर हिंदुस्तान में ऐसा नहीं हो सकता।

अंग्रेजों ने हमारी मानसिकता को पश्चिमीकरण की ओर सायास नोड़ा। मानसिकता बदलने का काम उन्होंने 100-150 साल में किया। इसके लिए आधार भी हमारी पोथियों में ही जुटाए गए। हर पुराने समाज में हर तरह के विचार पड़े रहते हैं। जो हित के होते हैं, वे उभर कर रहते हैं। बाकी कोने में पड़े रहते हैं। उन कोने में पड़े विचारों की पोथियां भी बनी हो सकती हैं। विदेशी शासन अपनी वैधता ढूंढ़ने के सिलसिले में उस समाज के भीतर से ही अपने हित के मूल्य इस तरह से ढूंढ़ता है कि वे विदेशी और थोपे हुए न लगें। इस कोशिश में उन्होंने मनु को हमारे समाज के मानक के तौर पर उठा कर सामने रख दिया।

1750 के पहले मनुस्मृति हमारे लिए कोई बड़ी बात नहीं थी। 1784 में मनुस्मृति का पहली बार अंग्रेजी अनुवाद हुआ। 10-12 और भी ग्रंथ छापे गए। 1812 में सवाल उठा कि इस काम को आगे जारी रखना है क्या? तो लंदन से हुक्म आया कि इसे ज्यादा करने की जरूरत नहीं है पर मनुस्मृति को रीप्रिंट किया जा सकता है। भारतीय समाज की परिभाषा के लिए मनुस्मृति उनके माकूल बैठती थी। जबकि अपना ढांचा दूसरा था। भारतीय समाज की वर्णव्यवस्था मनुस्मृति की वर्णव्यवस्था नहीं थी। पर अंग्रेजों ने 18 वीं सदी के अपने समाज की अवधारणाओं को हमारे समाज पर लाद दिया। हमारे गांवों में आमदनी की विषमता एक और तीन के अनुपात से अधिक नहीं थी। अंग्रेजों ने जो समाज बनाया उसमें 1840-50 के बाद कारीगरों आदि के रहने की गुंजाइश गांवों में बची ही नहीं। उनके अधिकारों में कटौती कर दी गई। आमदनी में एक और दस का फर्क हो गया। जमीनें छीन ली गईं। लोगों को दास बनाने की कोशिश हुई तो वे गांवों से भागे। अब हमारे सर्वोदयी रोते हैं कि गांवों से तेल की घानी गायब हो गई। जुलाहे गायब हो गए। चमड़े का काम करने वाले गायब हो गए। तो 100 साल से जब हमारी मानसिकता लोगों को गुलाम बनाने वाली हो गई और उसमें मनुस्मृति भिड़ा दी गई तो कारीगर गायब क्यों नहीं होंगे? स्वदेशी मॉडल तो तभी बन सकता है जब आर्थिक और सामाजिक बराबरी बने। इसके बगैर इस बात की कल्पना करना बेमानी है।

पश्चिमीकरण को मानने वाले आज भी दो फीसदी

स्वदेशी और पश्चिम की पूरी अवधारणा को समझने के लिए 18 वीं सदी के अंग्रेजी समाज को समझना जरूरी है। पश्चिम का विकास का मॉडल केंद्रीकृत रहा है। अधिकार और धन के केंद्रीयकरण का। जिनके पास इनका केंद्रीयकरण रहा, उन्हीं के पास ज्ञान और व्यापार का भी केंद्रीकरण हुआ। उनके सामंती समाज के उन्हीं 10-12 प्रतिशत बड़े लोगों की वहां के व्यापार में भी हिस्सेदारी रही। दुनिया भर से दौलत निचुड़ कर आई तो 1750 के आसपास वहां व्यापारी वर्ग का विस्तार हुआ। पर हुकूमत सामंतशाही के हाथ में ही रही। 1830 तक तो इंग्लैंड में दसियों चुनाव क्षेत्र ऐसे थे जिनमें मतदाता 10-12 से ज्यादा नहीं थे। 5000 से ज्यादा मतदाता तो किसी भी क्षेत्र में नहीं थे। चुनाव स्थानीय लाइर्स की जेब में ही रहते। कुल मिलाकर पूरी राजनीति, समाज और व्यापार उन अभिजात्य परिवारों के ही हाथ में था, जो 5-500 साल से स्थापित थे। अपने यहां 30-40 साल के सर्वोदय के काम पर हरिवल्लभ पारीख जिस तरह कई चुनाव क्षेत्रों में अपने लोगों को जिताकर लाते थे, इसी तरह से अंग्रेजों को ये सामंती परिवार करते थे। तो इसी तरह जब ज्ञान का भी केंद्रीकरण हो जाता है तो उसमें से लाइब्रेरी बनती होगी, रिफरेंस कार्ड बनता होगा। ज्ञान का और इजाफा होता होगा। एक व्यवस्था बनती है। और उसमें से प्रयोगशालाएं निकलती हैं।

इसी मानस ने मनु को हमारे समाज पर थोपा। पश्चिमीकरण की अवधारणा सिलसिलेवार उतारी गई। शुरू में हजार में एक ने माना होगा। विद्वता और सत्ता से जुड़े समाज ने इसे अंगीकर करना शुरू किया। शुरू में सोचा होगा मानसिकता ले लें, जीवन पद्धति छोड़ दें। पर जीवनपद्धति के साथ मानसिकता तो अपने-आप उतरने लगती है। इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं कि हमारे समाज का एक बड़ा हिस्सा आज जीन्स और स्कर्ट पर जीने लगा है। इस प्रक्रिया में तो अभेद्य किले भी टूट जाते हैं। मारवाड़ियों को, जैनियों को, ब्राह्मणों के वे तबके जिनके बारे में माना जाता था कि वे नहीं टूटेंगे, उनकी भी जीवनपद्धति बदली है।

पर आज भी पश्चिमीकरण को मानने वालों की संख्या हमारे समाज में दो फीसदी से ज्यादा नहीं है। ऊपरी तबके के कुछ लोगों के अलावा ये सरकारी और गैरसरकारी संगठित क्षेत्र में केंद्रीकृत व्यवस्था में जी रहे जो तीन करोड़ लोग हैं, उनकी तनखाह दूसरों से तिगुनी है, पश्चिमीकरण का व्यामोह उनमें ही है। उनमें निचले स्तर पर तो देखादेखी का ही मामला है। फिर विदेशों में गए हमारे कुछ व्यावसायिक क्षेत्रों से जुड़े लोग हैं। और उनके यहाँ के नाते—रिश्तेदार हैं, जो उनकी उपलब्धियां बखानते जी रहे हैं। हमारे यहां विदेश रिटर्न होना भी उपलब्धि माना जाता है न इसलिए! गांधीवादी आश्रमों में भी विदेश आते—जाते हिंदुस्तानी को सफल हिंदुस्तानी कहा जाता है न! बीच में 1954 में यह होने लगा था कि विनोबा के बारे में पश्चिम क्या सोचता है? इस विसंगति पर पूछने पर अंदरखाने बताया जाता था कि पश्चिम में आदर मिल जाता है तो इसलिये यहां दिल्ली में भी सुनवाई होने लगती है। अपनी बात के समर्थन में किसी पश्चिम के व्यक्ति की बात न आए तो फिर क्या। आजकल तो भाजपा वालों के भी भाषण विदेशियों के दो दर्जन उद्धरणों के बगैर पूरे नहीं होते। लेकिन इन सबमें से कुल मिलाकर पश्चिमीकरण के असली हिमायतियों की संख्या दो फीसदी के भीतर ही है।

पर पश्चिमी मॉडल हमारी व्यवस्था में बैठ गया है। यह व्यवस्था तो ऊपर के स्तर पर अफसरों से बात करने के लिए बनी थी। पर वही चली आ रही है। कांग्रेस ने ही नहीं, समाजवादियों, भाजपा आदि सबने वही मॉडल लिया। वकीलों, डॉक्टरों आदि की भी संस्थाएं उसी मॉडल पर बनीं। 70—80 साल में जिन लोगों ने मॉडल बनाया वे हिंदुस्तानी मॉडल को समझ ही नहीं सके। बनाने वाले लोग थे तो वही विद्वान लोग। सेंट स्टीफेंस वाले। पर इनका नाता अपने समाज से टूट गया था। हमारे यहाँ यह जो अति पर न जाने की बात है, चीजों को जो नाशवान देखा जाता है, जो संयम बरतने की बात है, वह तुलसीदास का बरसात की रात में ससुराल पहुंच जाना जो उनकी पत्नी को भी नहीं भाया न, उसे देखते हुए यह परखने की कोशिश ही नहीं हुई कि इस व्यवस्था में भी शक्ति और सत्य का शिखर बनाया जा सकता है? कोशिश होती तो शायद कोई संभावना उसके भीतर से भी निकलती। पर बात तो ऐसी बैठी है कि अब सहकारी संस्थाओं का जो साल फसलों से जुड़ा था, 30 जून को पूरा होता था, वह भी अब 31 मार्च को पूरा होने लगा है। तमिलनाडु सरकार लोगों को पानी पीने के लिए जो मटके बांटती है, वे भी प्लास्टिक के ही होते हैं। देहातों तक में आज 90 फीसदी माल हिंदुस्तानी नहीं रहा है।

यह स्वदेशी वाले अब रोते हैं कि गाँव उजड़ गए। दस्तकार उजड़ गए। 30—40 साल पहले कोई बहुत बड़ी गलती हो गई। लेकिन सबसे बड़ी गलती जो हुई कि गांधी जी को उनके ही लोगों ने जकड़ लिया। गांधी को बहते व्यक्ति के बदले एक बंद व्यक्ति में तब्दील कर दिया गया। गांधी समय के हिसाब से चीजों को ढालते हैं, यह भुला दिया गया।

लड़ाई के दौरान कांग्रेस का ढाँचा ब्रिटिश साम्राज्य के ढाँचे पर बना। जिससे लड़ना था, उससे लड़ने के लिए समानता ढूँढ़ी गई। पश्चिमी तरीके के लोग उसमें रखे गए। माना गया होगा कि समय इन्हें बदल देगा। जो गांधी खादी को आंदोलन का प्रतीक बनाते हैं, वे ही 1944 में खादी के सम्मेलन में कहते हैं कि मैं तो कृषि को प्रतीक चाहता था पर दिक्कत देखते हुए खादी को प्रतीक बनाया। खादी जो बनाए, वही पहनें। बाकी न पहनें। फिर कहते हैं कि गांव में एक ऐसा आदमी होना चाहिए जिसके पूछे वगैर बाहरी व्यक्ति वहां हस्तक्षेप न कर सके। फिर नई तालीम में 1946 में वे हिंदुस्तान की व्यवस्था के लिए ओसियानिक सर्कल्स (Oceanic Circles) की बात करते हैं जिसमें सबसे महत्वपूर्ण समूह इलाका होगा। फिर 1947 में वे कांग्रेस को खत्म करने की बात करते हैं। इसलिए नहीं कि उसमें बहुत दोष आ गया था। दोष तो 1924 की बेलगांव कांग्रेस के जमाने में भी था। कांग्रेस को खत्म करने की बात वे इसलिए करते हैं कि जिस काम के लिए उसका ढाँचा बना था, वह काम पूरा हुआ। अब आजादी के बाद के काम के लिए दूसरे ढाँचे की जरूरत है। उनके करीबी लोगों ने लोकसेवक संघ आदि बनाकर यह काम करने की कोशिश भी की। गांधी 1946 में जब नोआखाली जाते हैं तो निर्मल बोस उनके साथ रहते हैं। तब गांधी जी का रोज का कहा या तो रिकार्ड किया जाता है या फिर गांधी जी उसे खुद लिखते हैं। उस समय के कहे को देखें तो जैसा दुखी उस समय उन्हें हम लोग मानते हैं, वैसे दुखी वे दिखते नहीं। हिंदू—मुसलमान की कोई बात नहीं। वे तो इस बात की चर्चा में लगे हैं कि आने वाले भारत को किस तरह का बनाया जाना चाहिए। फिर 47 में विदेशियों से मिलते हैं। वहां भी यही पुनर्चना की बात। वे जो पाकिस्तान जाने की बात करते हैं वह भी वही पुनर्चना की ही बात है। कोई मरे हुए लोगों को जिंदा करने नहीं जा रहे हैं वे। जरूरी नहीं कि उससे कुछ निकलता। पर क्रिया थी। लेकिन उनकी उन्हीं हिंदू—मुसलमान की बातों को उभार दिया गया और उनकी पुनर्चना की बात पीछे छोड़ दी गई। इन सबको समझने की कोशिश होती तो गांधीवादियों की समझ में भी यह आ सकता था कि पिछले 20—25 सालों में गांधी ने एक कच्चा मॉडल ही बनाया था। और

इसके कच्चेपन को वे बखूबी जानते थे। पर गांधी को तो 'सीज' कर दिया गया। यह भी भुला दिया गया कि हिंदुस्तानी समाज जमा हुआ समाज नहीं है। उसकी गति अलग किस्म की है पर गति है। लेकिन चूंकि गति की परिभाषा बदल गई, आधुनिकीकरण ही उसका पैमाना हो गया, इसलिए अपने समाज के ऐडवेंचर्स, उसके खूंटे, उसका बहाव नहीं दिखाई पड़ा। तो इसमें तो फिर दरिद्रता ही दिखाई देती है।

गांधीजी खुद जानते थे कि जो ढांचा लड़ाई के दौरान वे बना रहे हैं वह कच्चा है। और इसे बदलना है। लोगों ने जब कहा कि अंत्यज शब्द खराब है इसे बदल देना चाहिए। तो गांधी जी ने कहा कि पहले तो ठीक ही रहा होगा। फिर लोगों के सुझाव पर हरिजन शब्द लाते हैं। इसलिए नहीं कि यह शब्द हजारों साल चलने वाला है। इस शब्द से उन्हें कोई विशेष लगाव नहीं है। वे तो समय के हिसाब से व्यवस्थाएं बना रहे हैं। और हरिजन शब्द समय के मुताबिक सही लगता है, तो मान लेते हैं।

भारतीय मॉडल संपत्ति जाड़ने का नहीं बटवारे का है

विकास के स्वदेशी और पश्चिमी मॉडल के बीच का असली फर्क क्या है? यह फर्क केंद्रीकृत और विकेंद्रीकृत मॉडल का है। फर्क संपन्नता का नहीं है। केदारनाथ मंदिर की संपत्ति के कागजात लंदन में पड़े हैं। नेपाल के राजा ने कुछ जमीन मंदिर के नाम की थी। मंदिर का मुख्य खर्च यात्रियों को खाना खिलाना था। संपत्ति पत्र में इस बात का भी निर्देश है कि हर यात्री को खाने का खर्च कितना देना है। वहाँ आय जोड़ने का प्रावधान नहीं है। कुछ बच जाए तो फिर उसे 12 साल में जो कुंभ होता, उसमें खर्च ही कर देना है।

सम्राट हर्ष वर्धन का मामला भी सामने ही है। हर साल की आय वे खर्च कर देते हैं। और स्थिति यह रहती है कि यमुना में नहाकर बाहर निकलने पर बहन राजश्री की ओर से भेंट में दिया वस्त्र ही उनकी कुल पूंजी होता है। भारतीय मॉडल इन सबसे निकलता है या ये सब उस मॉडल के प्रतीक हैं। भारतीय मॉडल संपत्ति जोड़ने का नहीं है, उसके बंटवारे का है।

मुगल बादशाहों के खर्च के हिसाब देखने के लिए पड़े हैं। बादशाह का खर्च उसके निजी खर्च, कुछ बनवा रहे हों तो उसके खर्च और लोगों को खाना खिलाने के खर्च तक का ही था। औरंगजेब ने राज्य के आय-व्यय के हिसाब में लिखा है कि अकबर कुछ धन छोड़ गए थे। जहांगीर आए तो आय 60 लाख रुपये हुई। खर्च डेढ़ करोड़ रुपये का रहा। अकबर के बचाए धन में से खर्च होता रहा। शाहजहां ने खर्च थोड़ा घटाया और आय डेढ़ करोड़ पर पहुंची। अब पहली नजर में लगता है कि औरंगजेब यह क्या लिख रहे हैं? बादशाहत की आय तो 10-12 करोड़ रुपए की थी। पर गौर से देखें तो औरंगजेब हकीकत बखान रहे हैं। बादशाहत की आय में से नीचे के स्तरों पर क्रमिक तौर पर खर्च चलता था। ऊपर बादशाह के पास 6 से 15 फीसदी के बीच ही कोई रकम पहुंचती थी। औरंगजेब ने इसे 15 फीसदी पर पहुंचाया होगा। उनके अलोकप्रिय होने का एक बड़ा कारण यह भी है। यह ऊपर से नीचे पहुँचाना भारतीय अवधारणा नहीं है। यह ऊपर से नीचे पहुँचाना पश्चिमी मॉडल है। अब राजाओं के पास कुछ सुरक्षा तामझाम को छोड़ दें तो कोई स्थायी सेना नहीं होती थी।

जो राजा जितना लोकप्रिय हुआ, जरूरत पड़ने पर आम जनता के बीच से लड़ने के लिए उतने लोग खड़े हो जाते थे। वही सेना बन जाती थी। स्थायी सेना तो यूरोप में भी 1700 के आसपास ही खड़ी होती है।

भारतीय समाज की मूल इकाई 'कुल' हैं। कुल रक्त संबंधों या फिर कर्मकांड के प्रतीकों से जुड़े थे। दूसरी मूल इकाई इलाका रही होगी। 1891 की जनगणना में अंग्रेज बड़े पैमाने पर जातिगत वर्गीकरण करते हैं। प्रारम्भ में 50,000 जातियों की गिनती है। जाटों में 11,000 जातियों की और राजपूतों में 8500 की। लगता है कुलों की गणना जाति के बतौर की गई है। शुरू में दो लाख के आसपास कुल रहे होंगे जो बाद में 5-7 लाख तक पहुंचे होंगे। पर यह कुल सात पीढ़ी तक ही स्थिर रहता है। श्राद्ध में तो तीन पीढ़ियों तक ही नाम स्मरण चलता है। फिर बाकी के लिए अनाम श्रद्धांजलि दे दी जाती है। अब रघु के कुल की बात चलती है। लेकिन वह बड़ी इकाई है। आपसी पहचान के लिए बीच में से किसी दादा-परदादा का नाम निकलेगा। तो इस इलाके और कुल के योग से स्थानीय राजनीतिक इकाई बनती होगी। वही बढ़ कर राज्य बनता होगा। राज्य भारत बनता होगा। और उसमें से चक्रवर्ती निकलता रहा होगा। अगर रघु दिग्विजय के लिए निकलते हैं तो कोई विशेष लड़ाई नहीं हुई होगी। जैसे तूफान के आगे पौधे झुक जाते हैं, फिर खड़े हो जाते हैं, वैसे ही होता होगा। दिग्विजयी कोई अपने गवर्नर-कलेक्टर तय नहीं करता। केवल आधिपत्य जम जाने और साल में कुछ भेंट वगैरह आने की बात थी। इस भारतीय मॉडल में किसी को मिटाने की बात नहीं है। उसे चूस कर कोष भरने की भी बात नहीं है। कुल और इलाका जुड़े हैं। एक गांव में एक ही कुल के लोग हो सकते हैं। और कई कुलों के लोग भी। बसावट अकसर स्वपूरक समूह के रूप में होती थी। कभी-कभी किसी इलाके में जो प्रभावी कुल रहा, दूसरे भी उसी कुल के कहलाने लगे। अब जाटों की जहाँ मजबूत खापें हैं, वहाँ गैर जाट भी उसी खाप के मान लिए जाते हैं। 1891 की जनगणना में अग्रवाल नाम बीसों जातियों में मिलता है।

जातियां बंधी नहीं थीं। बढई का लड़का 20 पीढ़ी बढई ही नहीं रहता होगा। ब्राह्मण के लिए भी तो मुख्य काम न कर सके तो 20 और काम गिनाए गए हैं। ऐसे ही काम दूसरी जातियों के लिए भी बताए गए हैं। अंतरजातीय बहाव कम नहीं रहा होगा। गांधीजी ही जब हरिजन शब्द निकालने लगे तो हरिजनों में से बहुतों ने कहा कि हम जब बाहर जाते हैं और टीका वगैरह लगाते हैं तो हमें कोई दिक्कत नहीं होती। गांधी जी ने कहा कि यह भी एक रास्ता है। यह नहीं कहा कि यह तो धोखा देना हुआ। यह जो चांडाल के अपने को चांडाल कहते

चलने के किस्से हैं, वे सही नहीं होंगे। ऐसा कहने की जरूरत नहीं थी। इलाके में हर आदमी जानता है कि कौन क्या है। कोई 500 मील दूर जाकर बसे तो अपने पिछले को बताना उसके लिए जरूरी नहीं है।

तो जो नया राजनीतिक-सामाजिक उभार आया है, लोगों में आत्मविश्वास झलका है, वह — या यह मंदिरों के इर्द-गिर्द युवा लोगों की त्योहारों पर जो भीड़ बढ़ रही है वह — क्या यह वर्ग देश के अपनेपन की ओर ले जाएगा ? मुझे लगता है कि इसमें अपनेपन की ओर वापसी का कोई रास्ता बन रहा है। इस समूह की दिशा को जांचा जाना चाहिए। इसे युवा वर्ग को यदि लगता है कि हमारे बाप-दादा जो कर रहे थे, वह आज के लिए ठीक नहीं है और इसे यह जो कुछ नया हो रहा है, वह करना चाहिए, तो वह उसी ओर आगे बढ़ेगा। उदाहरण के लिए यह मद्रास का पीपीएसटी समूह देखें। एक अमेरिकन महिला उन्हें देखने के बाद लिखती है कि लेकिन ये लोग क्या कर सकते हैं, ये तो ब्राह्मण हैं। इनकी सुनेगा कौन ? जिस बात को वह महिला समझी, उसे हम लोग नहीं समझे। तो हम जैसे द्विज मानसिकता के कुछ लोगों की प्राथमिकता स्वदेशी हो सकती है। पर यदि नए उभरते हुए लोग अमेरिकी तर्ज पर चलना चाहें तो उनकी बात चलनी चाहिए। और यह जो बढ़ती धार्मिकता की बात है तो यूरोप में भी विज्ञान के साथ जन्मकुंडली चल रही है। ये युवा ऐडवेंचर के तौर पर मंदिरों में जाते हों तो उससे स्वदेशी ही नहीं, दूसरी चीजें भी निकल सकती हैं। नवरात्रि जागरण और फैक्स मशीन बनाने के गणित में वे शायद मेल बिठा ले रहे होंगे। अभी यह दोनों तरह का दिमाग चल सकता है। पर समस्या अंत में 100-50 साल बाद आ सकती है। यह आत्मविश्वास पश्चिमीकरण की गति को तेज भी कर सकता है। अब ये पंजाब के कारीगर जो छोटी मशीनें जोड़ लेते हैं, वे सिखाने पर हवाई जहाज भी जोड़ सकते हैं। उनकी ओर से नई खोजें भी सामने आ सकती हैं।

यह फैसले का वक्त है। मॉडल पर जनमत संग्रह हो जाना चाहिए। अगर ज्यादातर लोगों को लगता है कि प्लास्टिक युग में ही जाने में भलाई है, पिछले पर लौटने में फजीहत है, बाहरी ताकतें पिछले पर साबुत नहीं लौटने देंगी तो दूसरों को समाज को इस दिशा में जाने में रोड़ा नहीं बनना चाहिए। ताकि यह काम 10-20 साल में ही पूरा हो जाय। बल्लि कोशिश इस दिशा में जाने की गति बढ़ाने की होनी चाहिये। वैसे भी समाज उस दिशा में चलना चाहेगा तो न उसे सर्वोदयी रोक पाएंगे और न समाजवादी। और न संघी। समाज आगे बढ़कर उसमें से भी रास्ता निकाल लेगा। अब पश्चिम में भी कोई

मॉडल बनाकर विकास थोड़े ही हुआ था। शुरुआत तो मूल से हुई। भौतिकी आदि के वैज्ञानिक तो उसमें से बाद में निकले। ढांचा टूटा। जाम तो वह बाद में हुआ। और यही हमें मिला। ढांचा टूटता है तो बड़ी मार-काट होती है। हमारे लोग पीपीएसटी जैसे समूह को उठाकर फेंक देंगे। जाम मॉडल भी तोड़ देंगे। इन सबके बीच में यह गाब-दाब भी चलता रहेगा।

आज कांशीराम और मायावती गांधी जी के खिलाफ बोलते हैं, फिर उनके विरोध में हम लोग बोलने लगते हैं। हमारा यह विरोध इसलिए है कि कांशीराम और मायावती हम लोगों से ऊंची बात कर रहे हैं। वे पूरे भारतीय समाज को गाली दें तो हम लोगों को और भी अच्छा लगेगा। यूरोप के लोग जब हमें गाली देते हैं तो वह हम लोगों को आखिर अच्छा ही लगता है न। यह वक्त इस हीनता से निजात पाने का है। फैसले का वक्त है।

विकास का सवाल

(1)

तिरुपति में हाल ही में सम्पन्न भारतीय विज्ञान काँग्रेस में अनेक विशिष्ट वैज्ञानिकों ने भारत-सरकार के, प्रौद्योगिकी नीति संबंधी ताजे वक्तव्य पर बहुत बेचैनी प्रदर्शित की। उनमें से एक के अनुसार “हमारे यहाँ पुराने विज्ञान की ही पढ़ाई की जाती है (स्नातक उपाधिधारियों के लिये), कई मामलों में 40 बरस पुराने प्रयोग ही पढ़ाये जाते रहते हैं।” एक अन्य वैज्ञानिक का कहना था कि पिछले 33 बरस में उसने वैज्ञानिक नीति पर अनेक वक्तव्य पढ़े-देखे हैं, किंतु उनमें से एक पर भी अमल होते नहीं देखा। उनका कहना था कि “मेरी रूचि और मेरा लगाव अपने देश के लोगों के लिये विज्ञान की प्रगति में है। पर यहाँ फाईलें (आधिकारिक) और माध्यम हमें वहाँ ले जाते हैं जहाँ और अधिक फाईलों के सिवाय कुछ नहीं।” एक अन्य वैज्ञानिक के अनुसार “आधिकारिक पदों पर बैठे ज्यादातर लोगों का किसी भी ताजे शोध के प्रति रवैया यह होता है कि “क्या और कहीं ऐसा हुआ है?” “नई सूझों, नये विचारों को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। यदि पश्चिम में वैसा हुआ है तो वे उसका समर्थन करेंगे। अन्यथा नहीं। भारतीय विज्ञान समाचार एसोसिएशन के अध्यक्ष ने कहा कि नई नीति “इच्छाजनित विश्वास” का वक्तव्य मात्र है। (देखें इंडियन एक्सप्रेस, मद्रास के 10 जनवरी, 1983 के अंक में छपी रिपोर्ट)

डॉ. नायदम्मा (जवाहरलाल नेहरू विश्व विद्यालय के पूर्व उप कुलपति) के अनुसार “पश्चिमी ढांचे पर आधारित मौजूदा शिक्षा पद्धति ने न तो सही किस्म की मानवीय शक्ति उत्पन्न की, और न ही जनता की शिक्षा के स्तर को उन्नत बनाया। पारंपरिक तकनीकी और स्थानीय मेधा की अवहेलना से अपने लोगों का आत्मविश्वास घटा है और स्थानीय प्रौद्योगिकी द्वारा बुनियादी स्तर पर समस्याओं के समाधान की क्षमता पर भी असर पड़ा है”। (देखें हिंदु, मद्रास 10 जनवरी, 1983)

इसी अवधि में अन्यत्र सम्पन्न एक सभा में एक विशिष्ट और राजनैतिक तथा प्रशासनिक सत्ता के बहुत करीब रहे व्यक्ति ने यह अभिमत व्यक्त किया कि मौजूदा न्यायिक पद्धति “नागरिकों के हित संरक्षण की दृष्टि से बहुत

संवेदनाहीन, बेहद धीमी, और बेहद खर्चीली है”। बंगलूर में राजाजी जयन्ती पर व्याख्यान देते हुए जम्मू काश्मीर के राज्यपाल बी.के. नेहरू ने इसी सिलसिले में आगे कहा कि भारतीय संविधान को अपूर्ण कहने का कोई उपयोग नहीं है। उन्होंने सुझाव दिया कि हमें अब ऐसी संस्थाएँ बनानी होंगी, जो अपने समाज में अंतर्निहित प्रवृत्तियों के अनुरूप हों। साधारण नेतृत्व इन्हें नहीं समझ सकता। जिस बड़े नये परिवर्तन का उन्होंने सुझाव दिया, वह था “परोक्ष निर्वाचन की पद्धति के साथ-साथ विधायिकाओं के चुनावों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था। सीधे चुनाव सिर्फ पंचायतों या नोटीफाईड एरिया कमेटियों या नगर पालिकाओं अथवा नगर निगमों के लिये हो। इससे अगली कड़ी इस पद्धति में होंगी जिल्हा परिषदें जो कि विधानमंडलों को चुनेंगी। राज्य विधान मंडल द्वारा केंद्रीय विधायिका की लोकसभा का निर्वाचन किया जायेगा।” (देखें हिंदु, मद्रास, जनवरी, 1983)

कुछ ही समय पहले भारत एशियाड 1982 की मेजबानी कर चुका है। यह सच है कि उसकी तैयारी तीन-चार साल चली और इस संदर्भ में अस्सी करोड़ से बारह सौ करोड़ रुपयों तक खर्च होने की कथाएँ कही गई हैं। यह रकम दिल्ली महानगर को एशियाड 82 के लिए तैयार करने में खर्च हुई। उसके बाद, जैसा कि स्पष्ट हुआ, इस तैयारी का भारतीय खेल क्षमता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा दिखता। खेलों में उँचा स्थान भारत को नहीं पूर्वी एशिया के चीनी गणतंत्र और दोनों कोरिया जैसे देशों को मिला। जापान का अग्रणी रहना तो अप्रत्याशित नहीं था। खेलों में तो भारत बेहतर भूमिका नहीं निभा पाया पर तो भी हिसाब लगाने में दक्ष लोग हिसाब लगाकर बता रहे हैं कि एशियाड की मेजबानी से हमें क्या-क्या लाभ हुए। सामान्यतः यह दावा किया गया है कि इस एशियाड की तैयारी में हमने अपनी उस तकनीकी दक्षता का अनुभव बढ़ाया जो कि विकसित देश ही रखते हैं। यातायात नियंत्रण को अबाध बनाये रखने और एशियाई खेलों के दौरान कानून और व्यवस्था के विधाताओं द्वारा साधारण भारतीय पदयात्री के साथ सहानुभूति व्यक्त करने में भी हम विकसित देशों द्वारा ऐसे अवसरों पर किये जाने वाले व्यवहार से पीछे नहीं रहे। अंतरराष्ट्रीय व्यापार में तथा विश्व मामलों की हमारी सरकारी समझ में प्रगति के भी लाभ गिनाये जाते हैं। इन खेलों का विशेषतः जिमनास्टिक और कसरती संस्कृति वाले खेलों का भारत के सामान्य बच्चों की खेल-चेतना पर क्या प्रभाव पड़ा यह जानकारी महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

एशियाड 82 की मेजबानी जैसी अनेक घटनाएँ विभिन्न क्षेत्रों में भारत

की उपलब्धियों के तौर पर गिनाई जा सकती हैं। और इनमें से अधिकतर, मार्च 1950 में प्रथम योजना आयोग के गठन के जरिए प्रारंभ योजना एवं विकास की प्रक्रिया का परिणाम बताई जा सकती हैं। बहरहाल पिछले दो दशकों से भारत में इस नियोजित विकास के प्रति विक्षोभ जगा है। हाल ही में यह विक्षोभ तीव्रतर हुआ है। यह विक्षोभ सिर्फ हमारी आवश्यकता को देखते हुए अत्यधिक पर्याप्त विकास के कारण ही नहीं है बल्कि इससे भी ज्यादा इस बात को लेकर है कि क्या सिर्फ इन्हीं परिणामों के लिए भारत में 1920, 1930 तथा 1940 के दशकों में स्वाधीनता-आंदोलन छेड़ा था।

इसी संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि संविधान सभा में नवम्बर 1948 में इस प्रश्न पर गरम झड़प हो गई थी कि संविधान में भारतीय गाँवों का स्थान क्या हो? संविधान का मसविदा वकीलों की एक समिति ने तैयार किया था। इनमें से सिर्फ एक ने ही समिति के वास्तविक विचार-विमर्श में जमकर भाग लिया। इस मसविदे से संविधान सभा के बहुत कम सदस्यों को संतोष हुआ। सदस्यों का सामान्य अभिमत यह था कि यह मसविदा भारतीय चिंतन एवं विचार का विरोधी है। सदस्यों ने आश्चर्य से पूछा कि यह किसके कल्याण के लिये है? श्री टी. प्रकाशम् ने पूछा—“यह मुट्ठीभर लोगों के हित-साधन के लिये है या इसमें उन करोड़ों लोगों के भी हित का कहीं विचार है, जो राजस्व और कर देते हैं?” कुछ अन्य लोगों का मत था — “गांधीजी का और काँग्रेस का दृष्टिकोण यह रहा है कि भारत का भावी संविधान पिरामिड — जैसी संरचना वाला होगा और ग्राम पंचायत उसकी बुनियाद होगी।” इस स्तर पर संविधान सभा के सदस्यों और मसविदा समिति के बीच मध्यस्थता-सी कर रहे श्री के. संधानम् तक का यह मत था कि ग्राम पंचायतों के अस्तित्व को संविधान में मान्यता देनी होगी, क्योंकि “आगे चलकर हर गाँव की स्थानीय स्वायत्तता से ही इस देश की भावी स्वाधीनता का आधारभूत ढाँचा निर्मित होगा।” बहरहाल, अनेक कारणवश यह संविधान बदला नहीं गया। जिनमें से एक कारण यह कहा जाता है कि बुनियादी मसौदे को बदलने की दृष्टि से बहुत विलम्ब हो चुका था। लेकिन शायद बड़ा कारण यह था कि इस परिवर्तन के प्रति डॉ. भीमराव अम्बेडकर जैसे लोग और संभवतः पंडित नेहरू तथा सरदार पटेल भी (दोनों ही इस पूरी बहस में मौन रहे थे) अनुत्साही, अनादर-युक्त तथा आक्रामक दिख रहे थे। किया सिर्फ इतना गया कि संविधान सभा के विक्षुब्ध सदस्यों को शांत करने हेतु संविधान में एक अतिरिक्त अनुच्छेद जोड़ा गया (वर्तमान में अनुच्छेद 40)। इसमें राज्य से कहा गया था कि “ग्राम पंचायतों को संगठित करने के लिए

कदम उठाये जाएं और वे स्वायत्त-शासन की इकाइयों के रूप में काम करने में सक्षम रहें, इस दृष्टि से उन्हें आवश्यक अधिकार और सत्ता सौंपी जाय।”

नियोजित विकास की उपलब्धियों के मूल्यांकन के लिए या कि विक्षोभ की पद्धति को समझने के लिए भी, शायद यह जरूरी है कि भारत के हाल के अतीत में कुछ झांका जाय। सन् 1929 तक भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की घोषित प्रेरणा थी, तत्कालीन ब्रिटिश राजनैतिक पद्धति के अंतर्गत ही किसी तरह की समानता की उपलब्धि। किंतु दिसम्बर 1929 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने ब्रिटिश राज्य से पूर्ण स्वतंत्रता की उपलब्धि का लक्ष्य निश्चित किया और महात्मा गांधी द्वारा तैयार स्वातन्त्र्य-प्रतिज्ञा में कहा गया – “हमारा विश्वास है कि हर एक समाज की तरह, भारतीय जन का भी यह अहस्तान्तरकरणीय अधिकार है कि वह स्वाधीन रहे और अपने परिश्रम के फल का आनन्द ले तथा जीवन की जरूरतों से इस प्रकार युक्त रहें कि उनके पास विकास के संपूर्ण अवसर हों। हमारा यह भी विश्वास है कि यदि कोई सरकार लोगों को इन अधिकारों से वंचित करती है और उनका उत्पीड़न करती है, तो लोगों को यह अधिकार भी है कि वे उस सरकार को बदल दें या समाप्त कर दें। भारत में ब्रिटिश सरकार ने न केवल भारतीय जनो को स्वाधीनता से वंचित किया, अपितु जन समुदायों के शोषण की भी अपनी बुनियाद बनायी है तथा भारत का आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विनाश किया है। इसीलिए हमारा विश्वास है कि भारत को ब्रिटिश संबंध तोड़ देना चाहिए और पूर्ण स्वराज प्राप्त करना चाहिए (गांधी वाङ्मय, अंग्रेजी, खंड 42 पृष्ठ 427)।” यहाँ, स्मरणीय है कि इस समय तक और आगे भी सन् 1934 तक जब तक कि गांधीजी कांग्रेस की सदस्यता से मुक्त नहीं हो गये; सभी महत्वपूर्ण दस्तावेज और प्रस्ताव गांधीजी स्वयं तैयार करते थे।

अंग्रेजों ने भारत का आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विनाश किया है और पूर्ण स्वराज पाने पर ही भारतीय जन विकास के पूर्ण अवसर पायेंगे, यह मुद्दा एक हद तक उस भारतीय संविधान द्वारा भी पुनः पुष्ट किया गया जो कि भारत ने जनवरी 1950 से अपने पर लागू किया। उसमें प्रतिज्ञा की गयी थी कि सभी नागरिकों के लिए सुनिश्चित होगा –

न्याय: सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक।

स्वाधीनता : विचारों, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था और उपासना की।

समता : स्थिति और अवसरों की तथा सभी के बीच बढ़ायी जायेगी

व्यक्ति की गरिमा और देश की एकता को आश्वस्त रखने वाली बन्धुता।

इन्हीं विचारों और प्रतिज्ञाओं के अनुकूल प्रथम योजना आयोग के गठन संबंधी भारत सरकार के मार्च 1950 के प्रस्ताव में कहा गया था—“भारतीय संविधान ने अपने देश के नागरिकों को कतिपय बुनियादी अधिकारों की गारंटी दी है तथा राज्य के कुछ नीति-निर्देशक सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं। विशेषकर यह कि सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय वाली सामाजिक व्यवस्था की प्राप्ति और सुरक्षा के जरिए लोगों के कल्याण के प्रोत्साहन हेतु राज्य प्रयासरत रहे एवं राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं को इससे अवगत कराये तथा अन्य के साथ ही, इन बातों की प्राप्ति की दिशा में अपनी नीतियां निर्देशित करें :

- (अ) कि समस्त नागरिक नर-नारियों को समान रूप से आजीविका का उचित जरिया पाने का अधिकार हो।
- (ख) कि समाज के भौतिक साधन-स्रोतों के स्वामित्व और नियंत्रण का वितरण ऐसे किया जाय कि सर्वोत्तम रीति से सबका सामान्य हित पोषित हो।
- (ग) कि आर्थिक व्यवस्था इस तरह से क्रियाशील हो कि उसके फल स्वरूप सर्वसाधारण के लिए हानिकारक रूप में धन और उत्पादन के साधनों का केंद्रीकरण न होने पाये।” (प्रथम पंचवर्षीय योजना दिसंबर 1952, भूमिका)।

यद्यपि 1930 की स्वाधीनता की प्रतिज्ञा की शब्दावली का किसी सीमा तक संविधान में समावेश किया गया और वह भारत के नियोजित विकास का निर्देशक विचार (सिद्धांत) बनी, तथापि ऐसा प्रतीत होता है और पिछले तीन दशकों की प्रवृत्तियों तथा घटनाओं से पुष्ट भी होता है कि व्यवहार में उसे अधिक गंभीरता से नहीं लिया गया, विशेषकर उनमें से ज्यादातर लोगों के द्वारा जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में नेतृत्व के पदों पर अथवा स्वाधीनता पाने पर दिल्ली में बनी सरकार के प्रमुख पदों पर थे। शायद उनके लिये यह प्रतिज्ञा वाग्मिता थी या आलंकारिक उक्ति। पूर्ववर्ती यथार्थ का या भविष्य के लक्ष्यों का कथन शायद उनकी दृष्टि में उस प्रतिज्ञा में अभिव्यक्त नहीं हुआ था। यह सही है कि भारत के राजनैतिक और आर्थिक विनाश के प्रेक्षण को बड़े पैमाने पर मान्यता मिली। किन्तु, भारत का सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विनाश किया गया है, और जिसका निहित अर्थ है कि इस समाज को विघटित और विस्थापित किया गया है, और उसके जनसाधारण के आत्मगौरव का अत्यंत हनन हुआ है,

प्रतिष्ठा समाप्त की गई है तथा उनकी पहल की क्षमता रौंदी गई है, प्रतिज्ञा के इस आशय वाले वाक्यांश की उन लोगों के बीच और काम पर कोई अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं परिलक्षित हुई, जिन्होंने 1986 के बाद आगे भारत में शासन करना शुरू किया। लगता है कि वे (और सचमुच इनमें व्यावहारिक रूप से भारत के विशेषाधिकार भोगी हर तबके के लोग शामिल थे, भले ही वे किसी भी विचारधारा का अनुमोदन करते हों) अपने आसपास के संसार की चकाचौंध से ज्यादा ही चौंधिया गये थे। साथ ही जिन सामाजिक और आर्थिक सैद्धांतिक स्थापनाओं से उनके विचारों की बुनियाद रची गयी और जो इतिहास उन्होंने पढ़ा (इनमें से ज्यादातर इतिहास-ग्रन्थों का उद्गम पश्चिम में मुख्यतः अंगरेजी-भाषी इलाकों में हुआ था) उसमें वे अभिभूत दिखते हैं। यहां तक कि दिसम्बर 1953 में भी पंडित जवाहरलाल नेहरू का विश्वास था कि “पिछले दो हजार वर्षों के विश्व-इतिहास के मानव-जीवन को परिवर्तित करने वाला कोई भी तत्व, इतना शक्तिशाली नहीं रहा, जितना कि औद्योगिक क्रांति और उसकी अनुगामी क्रियाएं”। जरूर वे यह भी सोचते थे कि अपने जोखिम भरे नजरिये के सिलसिले में वे “जनता के विशाल समूह को विश्वास में लें” और उन्होंने देखा कि “जनता के विशाल समूह में यह उत्तेजना भरनी होगी कि वे राष्ट्र को गतिशील रखने के विराट् उद्यम के सहभागी हैं, सरकार में और उद्योग में साझीदार हैं।” (दृष्टव्य-जवाहरलाल नेहरू: भाषण (अंगरेजी में) खंड 3, पृष्ठ 59, 60, “बैलगाड़ी, मोटर गाड़ी, जेट विमान, “1958 में प्रकाशित)।

ऐसी सहभागिता के लिये पंचायती राज इत्यादि विविध कार्यक्रमों के जरिए आधे-अधूरे मन से प्रयास किये गये। किन्तु इन योजनाओं और कार्यक्रमों का भी गठन शेष भारतीय राज्य पद्धति की ही तरह हुआ था और शीघ्र ही वे भी उसी गतिरोध की स्थिति में जा फंसे।

विकास में लोगों की भौतिक शारीरिक सहभागिता की कुछ गुंजाइश जरूर थी, किन्तु चाहे सिर्फ शासन तंत्र हो या विकास का मामला, किसी में भी हम ऐसे मार्ग नहीं खोज पाये, जिनके जरिए भारत के छत्तीस करोड़ (उपर्युक्त भाषण-पुस्तक के पृष्ठ 4 के छपे भाषण का, जो पंडित नेहरू द्वारा 13 अक्टूबर 1954 को दिया गया था, शीर्षक ‘छत्तीस करोड़ समस्याएं’) लोग सामूहिक तौर पर अपनी मेधा एवं प्रतिभा उस दिशा में तथा उन कामों में लगा सकें, जिन्हें वे उपर्युक्त समझते हैं तथा जो वे सृजन करना चाहते हैं। यह बात अब भलीभांति विदित हो चुकी है कि जो नई वैज्ञानिक प्रयोगशालाएं स्वाधीन भारत में स्थापित हुईं तथा जिन महान वैज्ञानिकों ने उन्हें संचालित-निर्देशित किया, उनके पास

कम से कम 1950 के दशक तक जन सामान्य की महत्वपूर्ण समस्याओं की तरफ ध्यान देने की फुरसत नहीं थी। एक अर्थ में, लोगों का फिर सन् 1915 की स्थिति में धकेल दिया गया, जबकि सार्वजनिक सामाजिक जीवन में महात्मा गांधी का उदय हुआ था और तब उन्हें सार्वजनिक जीवन में वापस लाया गया था। अपने शुभेच्छु विदेशी मित्रों की तरह, जो तब भी ऐसा सोचते थे और अब भी सोचते हैं, हम लोग भी यह मान बैठे कि ये सामान्य भारतीय देशवासी अपनी मानसिक क्षमता पूरी तरह खो बैठे हैं और सांगठनिक मामलों में या कि तकनीकी के क्षेत्र में किसी सृजनात्मक योगदान की उनमें क्षमता नहीं है। हां, वे दैहिक बल या यांत्रिक दुहराव की अपेक्षा वाले कार्यक्रमों में अपना योगदान दे सकते हैं।

यहां यह उल्लेख भी प्रासंगिक होगा कि आधुनिकता की शक्तिशाली धार के दबाव से अप्रभावित अनेक व्यक्ति एवं समूह 1950 में, और आगे भी, भारत में मौजूद रहे हैं (व्यक्तियों में से कुछ-एक के नाम गिनाने हों तो राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण और आचार्य विनोबा भावे के नाम लिये जा सकते हैं)। ऐसे अनेक व्यक्ति थे जिन्होंने दिल्ली के शक्ति केन्द्र द्वारा संचालित प्रक्रिया के विरुद्ध व्यापक सार्वजनिक असहमति को वाणी दी थी। कई समूहों ने, विशेषकर समाजवादियों ने, छोटी मशीनों की बात भी कही (शायद भारत के लिये उपयुक्त प्रौद्योगिकी के संदर्भ में, जो कि स्वदेशी उपकरण, माल तथा साधनों से विकसित हो सके) तथा “चौखम्भा राज्य” आदि शब्दावलियों के सहारे देश के लिये अधिक उपयुक्त राजनैतिक ढांचे की बात कही और दीर्घकालिक सामाजिक एवं रचनात्मक सेवा-कार्य के लिये विशाल भूमिसेना की बात की। सम्पूर्ण गांव की ग्राम सभा, ग्राम-समुदाय तथा लोक-शक्ति के विचार के आधार पर भारतीय राजनैतिक स्वरूप (पोलिटी) को पुष्ट करने वाला सर्वोदय आंदोलन भी उभरा। किन्तु सामान्यतः बड़े पैमाने पर इन विचारों का स्वर अधिकांशतः अस्पष्ट और अस्फुट था। इन संदर्भ में एक बुनियादी दस्तावेज जो 1958 में सामने आया वह था-जयप्रकाश नारायण लिखित “ए प्ली फॉर द रिकन्स्ट्रक्शन ऑफ इंडियन पोलिटी”।

(2)

जो लोग किसी न किसी तरह भारत के मामलों के प्रबंध से जुड़े हैं, सार्वजनिक तौर पर उनके द्वारा कही गयी बातें सुनी जायें, साथ ही उनकी

निजी प्रतिक्रियाएं देखी जाएं तो ज्ञात होता है कि जो काम उन्होंने अपने जिम्मे ले रखा है वह उनके लिये बड़ा बोझ बना हुआ है। आकाशवाणी दूरदर्शन पर समाचार प्रसारणों के पूर्व अक्सर प्रसारित होने वाले नेताओं के वक्तव्यों और संदेशों में यह दुहराया जाता रहता है कि 1921 में भारत की आबादी इतनी थी और अब इतनी है, तथा 2001 में इतनी होगी। इन वक्तव्यों में यह अपेक्षा ध्वनित होती है कि श्रोता इस महान त्रासदी पर, इस शोधप्रद विभीषिका पर विचार करें। पश्चिम ने अपने बारे में बहु प्रचारित किया कि यूरोपीय मनुष्य का इतिहास और उसकी प्रेरणायें तथा सैद्धांतिक निरूपण सार्वभौम हैं। हमने इसे कबूल कर लिया। फलतः हम यह मानने लगे कि पश्चिम ने अपने 1000 वर्षों के इतिहास में जो कुछ किया है उसे अपने यहाँ दुहराने में हम भी समर्थ हैं। पश्चिमी मनुष्य की जो छवि हमारे मन में बस गई है वह या तो सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के लुटेरे व्यक्तियों की है, या फिर बीसवीं शताब्दी के परिष्कृत, दुनियादार, दूसरों का लिहाज रखने वाले, परोपकारी तथा कम से कम सैद्धांतिक स्तर पर सभी लोगों के बीच समता और बंधुता की वकालत करने वाले व्यक्ति की। हम यह समझने को तत्पर नहीं दिखते कि इस छवि के अतिरिक्त भी यथार्थ बहुत कुछ है और पश्चिमी मनुष्य का विकास उन विश्वासों और विचारधाराओं (दर्शन) में से हुआ है, जिनका भीतरी रूप कठोर है। भले ही बाहरी हिस्से सौम्य दिखें। पश्चिम की वर्तमान सर्वमान्य समृद्धि तथा कल्याणवाद मुश्किल से 50 साल पुराने हैं। वस्तुतः यह विचारणीय है कि क्या पश्चिम की मौजूदा समृद्धि तथा कल्याणवाद इन तथ्यों की दिशा में पश्चिम के अनुपालन का सीधा परिणाम है अथवा वह ऐसे प्रयासों और हलचलों का एक अनिवार्य परोक्ष परिणाम है, जिनमें लक्ष्य पूर्णतः अलग तरह के हैं। हम समझ नहीं पाते कि आज की चकाचौंध भरी स्थिति तक पहुँचने के लिये पश्चिम को कठोर, क्रूर और शोषक होना पड़ा है। यह शोषकवृत्ति और यह क्रूरता सिर्फ गैर पश्चिमी संसार के प्रति नहीं थी, अपितु शताब्दियों तक पश्चिमी शासक समूह अपने ही समाजों का क्रूर शोषण करते रहे।

यह अनुमान कि पश्चिम आज के लोकतांत्रिक और कल्याणकारी प्रबंधों तक इसलिए पहुँचा है, क्योंकि यह गुण तथा यह लक्ष्य इसके मध्य कालिक तथा प्रारंभिक-आधुनिक दौर में अंतर निहित थे, वैसी ही कपोल कल्पित कथा है, जैसी कि यह कपोल कल्पित कथा कि भारतीय जनगण हजारों वर्षों से दरिद्रता तथा राजनैतिक उत्पीड़न का जीवन जीते रहा है।

ईसवी सन् 1800 के आसपास, जब भारतीय समाज के बड़े हिस्से को

यूरोपीय राजनैतिक शक्ति ने छिन्न-भिन्न कर दमित कर रखा था, उस समय भी भारत के अधिकांश हिस्सों में लोगों के बीच अधिक समानता थी, और यहाँ के साधारण श्रमिक ब्रिटेन के जनसाधारण से अधिक मेहनताना पाते थे। यह तथ्य इस काल के अनेक अध्येताओं के अध्ययन से जाना जा सकता है।

थॉमस मुनरो के अनुसार बेलारी जिले में उच्च, मध्यम और निम्न वर्गों में प्रतिव्यक्ति उपभोग-ढाँचा 17:9:7 के अनुपात में था। 1822-25 में मद्रास प्रेसिडेंसी में स्वदेशी शिक्षा संबंधी एक सर्वेक्षण के अनुसार वहाँ उन दिनों स्कूल में पढ़ रहे लड़कों का एक चौथाई भाग प्रेसिडेंसी की 12000 पाठशालाओं में शिक्षा प्राप्त कर रहा था। इसके साथ ही, घर पर बड़ी संख्या में शेष बच्चे पढ़ रहे थे (मद्रास शहर में की गई एक गणना के अनुसार शालाओं में जाने वाले बच्चों की संख्या से चार गुने बच्चे घरों में पढ़ रहे थे)। तमिलभाषी क्षेत्र में पाठशालाओं में (यहां सर्वत्र आशय देशी पाठशालाओं से है, अंगरेजी व्यवस्था द्वारा संचालित स्कूल तब नहीं थे) पढ़ रहे कुल बच्चों में शूद्र जाति के और तथाकथित अन्त्यज जातियों के बच्चों की संख्या 60 से 80 प्रतिशत थी। 1804 के "एडिनबरो रिव्यू" के अनुसार ईसवी सन् 1800 के आसपास भारतीय खेतिहर श्रमिक की वास्तविक मजदूरी दरें ब्रिटेन के खेतिहर मजदूरों से बहुत अधिक थी। यह तथ्य भी अब सुविदित हो चुका है और स्वीकार किया जाता है कि 1800 के आसपास भारतीय कृषि उत्पादन ब्रिटेन के कृषि उत्पादन से बहुत अधिक था; भारतीय इस्पात अधिक श्रेष्ठ स्तर का था और देश के बहुत से इलाकों में उसका उत्पादन होता था तथा भारत के बुवाई-हल (वपित्र) जैसे कुछ कृषि-उपकरणों की क्षमता तत्कालीन ब्रिटेन की ऐसी वस्तुओं से कहीं अधिक थी। "एडिनबरो रिव्यू" के ही अनुसार उन दिनों गेहूँ आदि के बीज की दरें ब्रिटेन में वही थीं, जो कि भारत में थी; किंतु भारत का उत्पादन बहुत अधिक था।

संभवतः बौद्धिक प्रमादवश, हममें से वे लोग जो देश का प्रबंध कर रहे हैं, राजनैतिक संगठन अथवा विकास या कि शिक्षा, इतिहास एवं विज्ञान के सिद्धांतों के बारे में अपने उन आधारवाक्यों पर पुनर्विचार हेतु प्रस्तुत नहीं हैं; जिन पर कि 35-40 वर्ष या और अधिक समय से वे चिपके रहे हैं। शायद हम यह सोचकर घबरा उठते हैं कि यदि हमने इस तरह की जिज्ञासा और प्रश्न भाव विकसित किया; ऐसे-ऐसे सवाल स्वयं से करने लगे, तो फिर जिन बातों के आधार पर हम चलते रहे हैं और चल रहे हैं (पिछले 40 या अधिक वर्षों से), वे रेत पर बने महल की तरह भस्मराकर ढह जायेंगी। क्योंकि हमारा यह महल, यह दुर्ग एक ऐसी इमारत है, जिसकी कोई वास्तविक नींव है ही नहीं। न तो वह

भारतीय अनुभवों की नींव पर खड़ा किया गया है, न राष्ट्रीय चरित्र के अनुकूल और न ही भारतीय जन की प्राथमिकताओं का विचार कर।

इस प्रकार “भारत के विकास के परिप्रेक्ष्य” को लेकर उठी किसी भी बहस के सामने यह एक बड़ा प्रश्नचिह्न है। यह नहीं कि पिछले तीस साल से ज्यादा समय से जारी नियोजित विकास ने भारतीय राष्ट्र की शक्ति में कोई वृद्धि नहीं की है, उसे कुछ अधिक आत्मविश्वासयुक्त नहीं बनाया है अथवा विविध क्षेत्रों में व्यवसायदक्ष लोगों तथा विशेषज्ञों को बड़ी संख्या नहीं पैदा किया है। ऐसा तो हुआ है। साथ ही, औद्योगिक उत्पादन और कृषि दोनों में गुणात्मक वृद्धि भी हुई है। किंतु साथ ही इस प्रक्रिया ने व्यापक पैमाने पर जंगलों का विनाश, भूमि क्षय तथा बाढ़ और सूखे की लगातार वृद्धि भी की है। इसी प्रक्रिया में पर्यावरण अधिकाधिक विषाक्त होता जा रहा है। अधिक सुरुचिपूर्ण और अधिक व्यवस्थित जीवन का सृजन करने के स्थान पर इस प्रक्रिया ने वस्तुतः साधारण जीवन को अधिक अस्थिर, अधिक असुरक्षित और निश्चय ही ज्यादा बदसूरत बना डाला है। यह कहना शायद गलत न होगा कि हमारे कस्बों, शहरों और महानगरों में भी कुछ सौ वर्ग मीलों में फैले केंद्रीय क्षेत्रों और सिविन लाइनों के अतिरिक्त, शेष क्षेत्र का विगत तीन दशाब्दियों में हर दृष्टि से हरास ही हुआ है और इन स्थानों में से अधिकांश तेजी से एक विशाल ‘स्लम’ की दिशा की ओर बढ़ रहे हैं। इसके विपरीत भारत के गाँव जो यदा-कदा कुलीन वर्ग की गहरी दिलचस्पी के केंद्र बनते रहते हैं; अत्यधिक दरिद्रीकरण और बुनियादी जन सुविधाओं के अभाव के बावजूद व्यवस्था और निवास की योग्यता में तुलनात्मक दृष्टि से अभी भी बहुत बेहतर हैं। कई लोग कह सकते हैं कि राष्ट्रीय साधन स्रोतों और राष्ट्रीय पूंजी का अधिकांश जिन कस्बों शहरों तथा महानगरों पर खर्च किया जा रहा है, उनकी “स्लम” जैसी दशा होते जाना स्वयं नियोजन या आयोजन का सीधा परिणाम नहीं है। निश्चय ही यह दशा इस तथ्य का फल है कि जो लोग यह सब प्रबंध करने में जुटे हैं, उनमें से अधिकांश का व्यवहार विचार-विहीन है। वे सृजनात्मकता से रिक्त हैं, अपने दिमाग से काम लेना बंद कर चुके हैं तथा जिन लोगों, जनगण के लिए वे काम कर रहे होने का दावा करते हैं, उन सर्वसामान्य लोगों की तनिक-सी भी सम्मति की इन व्यवस्थापकों के आचरण में कोई जगह नहीं है।

हमारे आधुनिक मकानों में से अधिकांश का खाका, (विशेषतः उनका जो साधारण या मध्यमस्तरीय लोगों के लिए बनाये जाते हैं अथवा छात्रावासों, अतिथि निवासों आदि का) अपनी कुरूपता और असुविधा के साथ इस बात का

साक्ष्य प्रस्तुत करता है, कि हमारे आयोजक और विकासकर्ता समुच्च विवेकशून्य हो चुके हैं। हमारे निजी निवास, छात्रावास, होटल आदि में पश्चिमी ढंग के शौचालयों का निर्माण जारी है, जबकि कोई बिरला भारतीय ही इनका उपयोग करने में सुविधा का अनुभव करता होगा। यह स्थिति एक मायने में हमारे विकास के बहुतांश की विजातीय नींव और परदेसी रूपविधान का प्रतिनिधित्व करती है। यदि यह तर्क दिया जाये कि लोगों का आराम महत्वपूर्ण बात नहीं है; तब भी यदि इस मामले में तनिक भी विचार से काम लिया जाता, तो अकेला यह तथ्य ही इन शौचालयों की स्थापना को रोक देने को पर्याप्त होता है इस यूरोपीय ढंग के शौचालयों में बहुत अधिक पानी ‘प्लश’ के लिये जरूरी होता है और पानी मोटे तौर पर हिन्दुस्तान में एक दुर्लभ वस्तु ही है। इस लेखक को एक बार हमारे महान वैज्ञानिक और शिक्षाविद् डॉ. दौलत सिंह कोठारी ने एक घटना बताई थी। बात ईसवी सन् 1940 की है, जब दिल्ली विश्वविद्यालय के विद्वानों के लिए आवासगृहों का निर्माण हो रहा था, पश्चिमी ढंग के शौचालय बनाये जाते देख ये लोग परेशान हो उठे। कारीगरों से कहा, तो उन्होंने उत्तर दिया कि वे खुद तो खाके में कोई फेरबदल कर नहीं सकते। सिर्फ उपकुलपति सर मॉरिस वायर ही इस विषय में अधिकारी हैं। यानी उनकी अनुमति से ही भारतीय ढंग के शौचालय बन सकेंगे। तब विद्वत् परिषद की ओर से अंततः डा. कोठारी सर मॉरिस से मिले। यद्यपि सर मॉरिस ने संभवतः ऐसा प्रतिनिधित्व पसंद नहीं किया, तथापि वे आधी बात मंजूर करने को राजी हो गये। यानी यह कि जो आवासगृह अभी भी बनने हैं, उनमें से जिनमें दो-दो शौचालय होने हैं, उनमें से एक भारतीय ढंग का भी होगा। जबकि जिनमें सिर्फ एक ही शौचालय होगा (यानी कनिष्ठ अध्यापकों के निवास), उनमें वह सिर्फ पश्चिमी ढंग का ही होगा।

हममें से कई लोगों का यह विश्वास हो सकता है, जैसा कि कार्लमार्क्स का और उनके पहले कुछ लोगों का विश्वास था और कार्लमार्क्स के बाद से अनेक लोगों का है, कि भारत सभ्य कहला सके, इसके पहले उसे पश्चिमी होना होगा। जहाँ तक हो सका, हम इस प्रयोग का प्रयास करते रहे हैं। प्रथमतः हमने भारतीय संविधान को मुख्यतः पश्चिमी विचारों और व्यवहारों के अनुकूल ढाला। द्वितीयतः, जो प्रशासनिक पद्धति अंगरेजों ने मूलतः 1770 से 1830 के दौरान अपने विजित क्षेत्र को शासित करने के लिए रची, उसे बनाये रख कर और आगे उसमें प्रचुर वृद्धि तथा विस्तार करते रहे। और तृतीयतः, हमने ऐसा किया, अपने नियोजित विकास और वैज्ञानिक प्रयोगों का वह ढांचा रचकर, जिसमें आयोजक तो सर्जक तथा निर्देशक हैं और दाता है तथा भारत की जनता उनसे उपकृत हो

रही समझी जाती है। इसका परिणाम यद्यपि बिल्कुल निराशाजनक नहीं रहा है, तथापि ऐसा भी नहीं है कि हम दावा कर सकें कि हम एक पश्चिम जैसा समाज बनाने जा रहे हैं। यह तो हो सकता है कि लगभग पाँच-पचास लाख भारतीय घरों में आज टेलीविजन सेट हों, रेफ्रिजरेटर हो, गैस वा बिजली के चूल्हे हों, शायद दस लाख कारें हो तथा ऐसा ही कुछ और हो, लेकिन इन्हीं (सत्तावर्गीय) स्रोतों के अनुसार भारतीय जनता का आधा हिस्सा 'गरीबी रेखा' के नीचे रहता है और 'गरीबी रेखा' से ऊपर वाले लोगों का अधिकांश हिस्सा घंटों तक परिवहन, दूध, चीनी, मिट्टी के तेल, खाद्य पदार्थ आदि के लिए लाईन लगाने में खर्च करने को विवश है।

इन गतिविधियों के पिछले तीस वर्षों की प्रशंसा में अधिक से अधिक कुछ कहा जा सकता है, तो यही कि इस दौरान भारत को वे चलाये रखे रही हैं। यह संभव है कि भाग्यवश हम इसी रास्ते पर चलते हुए कुछ समय तक और जिंदा रह लें।

(3)

लेकिन जिस रास्ते पर हम चलते रहे हैं, उसी पर चलते रहकर शायद भारत एक राजनैतिक इकाई बना भी रहे, तो भी भारत के जनसाधारण की यानि कुल आबादी के लगभग 95 प्रतिशत की, बुनियादी जरूरतों तक की पूर्ति की संभावना इस रास्ते में अत्यंत अल्प है। इससे भी बुरी बात यह है कि इस मार्ग के अवलंबन से भारतीय जन बहुत अधिक पराश्रित हो गये हैं। यहाँ तक कि आज का किसान भी नई संकर खेती और उसकी जरूरतों के संदर्भ में कम सृजनात्मक और नवाचार में कम समर्थ हो गया है। उसकी स्वयं की सृजनात्मकता तथा नवाचार की मेधा आज उससे भी अधिक अवरुद्ध कर दी गयी है, और बौनी बना दी गयी है, जितनी और जैसी कि ब्रिटिश राज्य के आरंभ में की गई थी। यदि भारत को एक सभ्य समाज के रूप में बचे रहना है तो उसे वर्तमान प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न आज की इस किंकरतव्य-विमूढ़ता की दिशा में से कोई और रास्ता निकालना होगा। एक ओर जनसंख्या के बहुत बड़े हिस्से के कल्याण की तो बात ही क्या, उसे भोजन, वस्त्र और निवास तक दे पाने में केंद्रीयकरण अक्षम हो चुका है और दूसरी ओर समस्त साधन स्रोतों तथा संगठनात्मक ढाँचों पर एकाधिकार और विनियोजन के कारण यह केन्द्रीयकरण जनगण द्वारा स्वप्रबंध के रास्ते में रुकावट बना खड़ा है। 19 वीं शताब्दी में तथा

20 वीं शताब्दी के आरंभ में भी यानि उस संपूर्ण अवधि में भी जब भारतीय किसान की अपने खेतों में निवेश की क्षमता निम्नतम बिंदु तक पहुँचा दी जा चुकी थी, और उसके कृषि औजार तथा माल-मवेशी बड़ी मात्रा में बरबाद कर दुर्दशाग्रस्त बनाये जा चुके थे, किसान ने देश को पर्याप्त अनाज देकर जीवित रखा, यह तथ्य उसकी सामर्थ्य और प्रतिभा का पर्याप्त दृष्टांत है। यही बात भारतीय शिल्पियों, कारीगरों के बारे में भी सच है।

भारतीय जनगण अपेक्षाकृत सौम्य प्रकृति का है। और कई पीढ़ियों तक उन्हें दबाकर रखा गया, उनकी खिल्ली उड़ाई गई, उन्हें पीसा जाता रहा तथा उनकी सार्वजनिक क्रियाशीलता प्रतिबंधित रही। फलतः 19 वीं और प्रारंभिक 20 वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतीय जन अपनी निजी सीमा में ही सिमट गये थे। इसका यह मतलब नहीं कि वे अन्याय और अनुचित का बुरा नहीं मान रहे थे। जैसा कि मार्च 1944 में किसी ने गांधीजी से कहा था, भारतीय दृश्य पर उनके उदय से पूर्व तक फिरोज शाह मेहता जैसे लोग भी अंग्रेजों से बोलते वक्त दबू और विनीत होते थे। गांधीजी ने स्वीकार किया कि 1915 तक ऐसी स्थिति थी, पर साथ ही यह भी कहा कि "मैंने जो कहना शुरू किया, वह वही था, जो लोग दिलों में महसूस करते थे, पर अपनी बात खुद कहने में समर्थ नहीं थे" इस प्रकार 1916 के बाद से, अगले 30 बरसों तक वे जनता के प्रवक्ता थे। वे भारतीय जनता की प्रशंसा करते और आवश्यकतानुसार झिड़कते भी। पर दुर्भाग्यवश उनके उत्तराधिकारियों ने, विशेषकर जो स्वाधीन भारत के प्रबंधक बने, उन्होंने ब्रिटिश राज्य के समय का व्यवहार का ढाँचा अपना लिया। (उन्होंने ऐसा क्यों किया, यह मनोविश्लेषकों पर छोड़ देना ही बेहतर होगा। या शायद यह कारण रहा हो कि ब्रिटिश शिक्षा और ट्रेनिंग की उन पर उससे अधिक गहरी छाप थी, जितनी गांधीजी के साथ बिताये गये उनके समय की छाप उन पर थी)। वे पश्चिम से अभिभूत थे, फिर यह सोवियत संघ हो या अमरीका अथवा यूरोपीय औद्योगिक क्रांति का प्रारंभ हो, इस संदर्भ में इन सबका एक ही अर्थ है। इस कारण उन्हें भारत की हर वस्तु अदिमकालीन अतः अपरिष्कृत, संकीर्ण, अंधविश्वास-युक्त इत्यादि प्रतीत होती थी। उनकी दृष्टि से जिसे वे भारत का अभिमान या प्रगति समझते थे; उसकी राह में भारत के लोग वस्तुतः एक व्यवधान थे, राह के रोड़े थे और इसलिए ये भारतीय जन निर्णय और कर्म के क्षेत्र से (सिवाय लकड़ियों चीरने, पानी खींचने और कभी-कभी इस-उस की साजसज्जा के काम से) जितना ही दूर रहें, उतना ही उनके सपनों के भारत के लिए बेहतर है। यह संभव है कि यह दृष्टिकोण सार्वजनिक तौर पर खुलकर

अधिक व्यक्त न किया गया हो, पर दृष्टि यही थी। इस दृष्टि वालों में से किसी को कभी यह याद नहीं आया कि ये वे ही भारतीय जन हैं, जिन्होंने निम्नतम संभव पूँजी-निवेश, उपकरणों और उस पशुसम्पदा के जरिए भी भारत की रक्षा की थी तथा पालन किया था जो उन्हीं की तरह अरिथपंजर मात्र बना डाली गयी थी। उनकी प्रशंसा करने और उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के स्थान पर उन्हें वस्तुतः यह बताया गया कि वे निकम्मे हैं। सर्वसामान्य भारतीय जन को इस तरह रद्द कर देने और बहिष्कृत कर देने के बाद यह आश्चर्य की बात नहीं कि इस भारतीय कुलीन वर्ग के लिये शासन प्रबन्ध और विकास की समस्याएं इतनी बड़ी बोझ बन गयी।

समुद्रीय वृत्त सम्बन्धी अवधारणा के लिये 28 जुलाई 1946 का हरिजन दृष्टव्य है। इसमें “स्वराज” शीर्षक से अपने लेख में गांधी जी ने स्वराज लोकतंत्र की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कहा था — “वह एक सामुद्रिक वृत्त होगा, जिसका केन्द्र होगा व्यक्ति जो गांव के लिए उत्सर्ग को सदा तत्पर रहेगा, गांव ग्राम-समुदाय के लिए उत्सर्ग हेतु तत्पर रहेगा, यही क्रम चलता रहेगा और सम्पूर्ण समाज का ऐसे व्यक्तियों से बना एक अखंड जीवन होगा, जो अपने मन्तव्य से कभी भी आक्रामक न होंगे, सदा विनययुक्त होंगे तथा उस सामुद्रिक वृत्त की महत्ता के भागीदार होंगे, जिसकी कि वे अभिन्न इकाइयाँ हैं।” आगे उन्होंने लिखा—“असंख्य गावों (और स्वाभाविक ही कस्बों तथा शहरों) से युक्त इस संरचना में निरन्तर फैलने वाले किन्तु कभी भी प्रभुत्व न दिखाने वाले वृत्त होंगे। सबसे बाहर वाले वृत्त (यानी राज्य) द्वारा अपने समस्त भीतरी वृत्तों को सुदृढ़ रखने के लिए तथा उनसे शक्ति पाने के लिये ही शक्ति-संचय किया जायेगा, न कि उन्हें दबाने-कुचलने के लिये।”

शासन सम्बन्धी इन सुझावों की पर्याप्तता पर बहस संभव है। किन्तु भारत की तथा साथ ही पश्चिम की सभ्यता का उनका विश्लेषण तथा अपने स्वदेशी जनगण की तथा उनके द्वारा पोषित-समाहत नैतिक विचारों की गांधी की समझ अतुलनीय रही है और वह आज भी उतनी ही प्रामाणिक है, जितनी 60-70 वर्ष पहले थी। (सभ्यता सम्बन्धी उनका यह विश्लेषण सर्वप्रथम 1909 में “हिन्द स्वराज” में सामने आया। यह प्रश्नोत्तर शैली में है और उसमें गांधी जी ने उस समाज और राज्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है, जैसा वे स्वाधीन भारत में देखना चाहते थे।) जिन लोगों को दरिद्र बनने को विवश किया गया है, जो व्यापक वंचना के शिकार बनाये गये हैं और जिनका आत्मगौरव छीना गया है, उन्हीं करोड़ों लोगों की सृजनात्मक एवं प्रवर्तनकारी मेधा को मुक्त तथा जागृत

करके ही विकास की समस्या को हल करना संभव है। क्योंकि अंततः विकास का मूल अभिप्राय है “भीतर के विकास” तथा “आत्माभिव्यक्ति, आत्मविस्तार अणु से महत् की ओर बढ़ना”। अतः विकास की परिभाषा में ही यह निहित है कि वह तभी प्रारम्भ होगा जब भारतीय जनगण स्वयं अपना विकास करने में सक्षम होते हैं अर्थात् जब व्यक्ति-रूप में तथा समूह के अंग के रूप में वे खिलना, प्रस्फुटित होना शुरू करते हैं।

आजादी के बाद से जो दृष्टिकोण, जो कार्यविधि तथा जो उपकरण-व्यवस्था भारतीय मामलों में गतिशील रही है, वह अब और ज्यादा समय तक अपेक्षित कार्य नहीं कर सकती यानी संतोषप्रद रूप में गरीबी कम करने का तथा सर्वसामान्य भारतीय जन में आत्मगौरव तथा पहल की प्रवृत्ति पुनःप्रतिष्ठित करने का काम नहीं कर सकती, यह कहने का अभिप्राय इन दृष्टिकोणादिक की भर्त्सना करना नहीं है। 1947 के बाद की स्थितियों में, विशेषकर 1945 से आगे भारत जिस दिशा में बढ़ा यहां के कुलीनवर्ग खासकर, प्रशासन वर्ग और अर्थशास्त्री समूह ने अपनी दक्षता भर कार्य किया। इस क्रियाशीलता से हिन्दुस्तान से अभाव, दरिद्रता और पराश्रय के समुद्र के बीचों बीच पश्चिमीपन और अति समृद्धि के कुछ सौ नखलिस्तान तथा परकीय अन्तः क्षेत्र विकसित हो गये हैं तथा समस्त नैतिक आचरण और मानदण्ड क्षत-विक्षत हो चुके हैं। इन सबका दायित्व उन्हीं पर डालने की जरूरत नहीं है। किन्तु भारत के स्वास्थ्य और समृद्धि के लिए यह स्वीकार करना होगा कि ये नजरिये वगैरह अब प्रासंगिक नहीं हैं और वे वस्तुतः भारतीय समाज के ताने-बाने को ही नष्ट-भ्रष्ट करने वाले हैं। ऐसी परिस्थितियों में, भारतीय राजनैतिक व्यवस्था को तथा जीवन के हर क्षेत्र में सक्रिय विचारशील भारतीयों को उन भागों तथा साधनों को खोजना होगा, जिनमें राष्ट्र की एकता सुरक्षित रहने के साथ-साथ देशजन को स्वतन्त्रता, अवसर और आनुपातिक राष्ट्रीय साधन-स्रोत उपलब्ध हो सकें, जिसमें विविध स्तरों पर लोग जीवन की अधिक आवश्यक और बुनियादी समस्याओं पर विचार करना तथा उनका समाधान करना प्रारम्भ कर सकें।

अब हमारे पास भारतीय मामलों के प्रबन्ध का पैंतीस वर्षों (अब 50 वर्षों) का अनुभव है, और साथ ही अंतरराष्ट्रीय जगत का अधिक यथार्थपरक परिचय है और शायद, औद्योगिक क्रान्ति की उपलब्धियों की चकाचौंध से भी हम कुछ मुक्त हुए हैं, यह तथ्य अवश्य नये मार्गों तथा साधनों के सृजन को अधिक व्यावहारिक बना देता है। जहाँ यह सच है कि एक ओर हमारी समस्याएं पैंतीस साल पहले की तुलना में अधिक जटिल हुई हैं और उनका दबाव बढ़ा है,

भारतीय समाज बनाम पश्चिमी समाज व्यवस्था —1

दूसरी ओर पहले से बड़ी संख्या में हमारे युवकजन अब और अधिक बौद्धिक तथा व्यावसायिक दक्षता से युक्त हैं तथा शायद उनमें संकल्प निर्णय और मौलिकता भी है, जिससे वे वांछित परिवर्तन और रद्दोबदल करने में समर्थ हो सकते हैं। यह ध्यान में रखते हुए कि यदि हम चाह भी लें तो भी हम विश्व के दबावों से सहसा अलग—थलग पड़कर नहीं रह सकते, यह हो सकता है कि कुछ समय तक हमें दो भिन्न—भिन्न रास्तों पर सक्रिय रहना पड़े। एक मार्ग है बाहरी दबावों और रिश्तों से व्यवहार का और दूसरा हमारे नैतिक और सामाजिक मूल्यों के अनुकूल है। इस प्रकार हम दैनंदिन जीवन में सहभागिता और सृजनात्मकता का प्रवर्तन कर सकते हैं तथा एक या दो दशकों में अपने समाज को पूर्ण स्वस्थ बना सकते हैं।

किन्तु ऐसे समझौते और तालमेल वाले मार्ग को अपनाने पर भी पाँच—सितारा संस्कृति के परित्याग की आवश्यकता तो पड़ेगी ही तथा कम से कम कुछ दशकों के लिए हम सभी को अधिकांश मामलों में ग्रामीण झोपड़ी के जीवन जैसा जीवन अपनाना होगा। यह तो सभी जानते हैं कि अन्य समाजों में भी ऐसे ही प्रयास हुए हैं और उन्हें उल्लेखनीय सफलता मिली है।

यह संभव है कि आगामी दशकों में भारत स्वयं किसी तरह की आधुनिकता को तथा उपयुक्त विज्ञान और प्रौद्योगिकी को चुने। भारतीय योजना—निर्माताओं तथा उनके स्वामियों और प्रेरकों की बहुत गंभीर गलती यह रही है कि उन्होंने देवताओं की तरह व्यवहार करने का प्रयास किया (या आधुनिक बिम्ब—विधान से बात करें तो कहना होगा कि उन्होंने उस महान श्वेत मनुष्य की तरह व्यवहार करने की कोशिश की, जो संसार के जंगली लोगों के लिए दिव्य उपहारों का बोझ लेकर आया बताया जाता है।) उन्होंने उस जनता के लिये जिसे उसने अपना श्रद्धालु भक्त समझ लिया था, योजना और विकास का वरदान लेकर आने वाले जैसा व्यवहार किया। पर क्योंकि न तो वह भूरा साहब था, न तो देवता, अतः अचरज नहीं कि स्थितियाँ इस तरह की हो गयीं। शायद यह समय है जबकि हम वैज्ञानिक दृष्टि के साथ ही सामान्य बुद्धि का प्रयोग करें और आज की कठोर वास्तविकता से एक—एक कदम आगे बढ़ें। जैसा कि गांधी जी करते थे, तथा हर बार यह भली भाँति देख लें कि जो कदम हम उठा रहे हैं वह ठोस आधार पर टिका है तथा हमारे उद्देश्य की दिशा में और उसका पोषक है। एक बार हमारा समाज क्रियाशील हो उठे, अर्थात् जब उसके उत्पादन मात्र उसके भौतिक निवेश का परिणाम न हो अपितु अधिक सृजनशीलता तथा प्रवीणता का फल हो, तब फिर अमूर्त मूद्दों पर बहस के लिए पर्याप्त समय बना रहेगा।

हमारे देश में या तीसरी दुनिया के दूसरे देशों में परिवार, शिक्षा और समाज की जो अवधारणाएँ आज प्रचलित हैं उनकी नींव ग्रेट ब्रिटेन या अमेरिका में 19 वीं सदी के दौरान पड़ी थी। उन दिनों वहाँ जो सिद्धांत बनाए जा रहे थे और जो विचार शक्ल ले रहे थे उन्हीं से इनका अर्थ निश्चित हुआ था। पुराने यूनानी दिनों से लगा कर 19 वीं शताब्दी के मध्य तक यूरोप में परिवार और शिक्षा का संबंध राजनैतिक सत्ता या संपत्ति हासिल करने से जुड़ा रहा है। यूरोप में संपत्ति और राजनैतिक शक्ति बहुत थोड़े से लोगों में ही सीमित रही है। इन थोड़े से लोगों ने ही अपने व्यक्तिगत जीवन में या उन्होंने जो साहित्य लिखा उसमें परिवार या शिक्षा से होने वाले लाभ के बारे में सोचा—समझा है।

पिछले दो हजार साल में परिवार का स्वरूप, उसका ढांचा और उसका अर्थ बदलता रहा है। यही बात शिक्षा के बारे में भी कही जा सकती है। प्लेटो या अरस्तू ने यूरोपीय ढांचे में परिवार की जो अवधारणा की थी वह सामंती, अभिजात, व्यापारिक या मध्यकालीन पश्चिमी यूरोप के साहूकार परिवारों से बहुत ज्यादा मिलती—जुलती नहीं दिखाई देती। इसी तरह प्लेटो की अकादमी 19 वीं शताब्दी के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से बिल्कुल अलग दिखाई दे सकती है। लेकिन पुराने स्पार्टा में, जहाँ नब्बे प्रतिशत आबादी दास या अजनबी लोगों की थी और जिन्हें कोई नागरिक अधिकार हासिल नहीं थे या 19 वीं शताब्दी के ब्रिटेन में, जहाँ सिर्फ एक प्रतिशत लोग जेंटलमैन समझे जाते थे, परिस्थितियाँ बहुत अलग नहीं थीं। परिवार या शिक्षा की सारी समझ 18 वीं शताब्दी के आरंभ से शुरू हुए यूरोपीय पुनर्जागरण काल तक इन्हीं थोड़े से ताकतवर लोगों के दृष्टिकोण पर आधारित थी।

अठारहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण के दौरान जो बहसें चल्यीं और उनमें से जो सिद्धांत निकले उन्होंने इस संभावना की तरफ इशारा करना शुरू किया कि परिवार और शिक्षा रूपी इन दोनों विशेषाधिकार को पश्चिमी यूरोप के सभी या अधिकांश लोगों तक फैलाया जा सकता है। क्रांति के डर ने उन्हें ईसाई व दूसरी नैतिक मान्यताओं को आम लोगों तक फैलाने के लिए प्रेरित किया। इसी

भय से उन्हें परिवार की अवधारणा को आम लोगों में फैलाने की जरूरत महसूस हुई ताकि वैधानिक रूप से स्थापित हुई सत्ता की अधीनता मानने की आदत लोगों में डाली जा सके। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए ही उनमें शिक्षा के प्रसार की बात सोची गई थी। और उनमें नई तर्कवादी मान्यताओं का प्रसार किया गया था। पुनर्जागरण काल के तर्कवाद ने इस धारणा को भी पैदा किया कि अगर उचित संस्थाएं खड़ी कर दी जाएं और उचित माहौल बना दिए जाए तो सभी लोग संपत्तिवान और ताकतवर हो सकते हैं। इस तरह की मान्यताएं बनाने के लिए नई अवधारणाओं और नए मिथकों की जरूरत थी। इसी से परिवार और शिक्षा की मौजूदा अवधारणाओं को जन्म मिला।

यूरोप में एक और ताकतवर विचार प्रचलित था। यह विचार है भौतिक जीवन में व्यक्ति को स्वतंत्र मानना। इस विचार का यूरोप की केन्द्रीय नियंत्रण की प्रवृत्ति से गहरा संबंध रहा है। व्यक्ति की स्वतंत्रता के विचार के आधार पर यूरोप में कुछ लोगों को बिना किसी बंधन और मर्यादा की अड़चन महसूस किए सत्ता और संपत्ति पर केन्द्रीय नियंत्रण संभव बनाने में काफी आसानी हुई। दूसरी तरफ लोगों को समुदायों की जैविक इकाइयों से तोड़ कर अकेला कर दिया गया। 19 वीं शताब्दी तक भौतिक जीवन में स्वतंत्रता का उपभोग मुट्ठी भर लोगों तक ही सीमित था। फिर भी जो लोग बहुत दुस्साहसी, उद्यमी या हताश होते थे, ऐसे लोगों की संख्या चाहे कितनी ही मामूली क्यों न निकले पर बहुसंख्यक आबादी के ऐसे लोग भी अपने देश के भीतर या दूरदराज इलाकों में राजनैतिक सत्ता या संपत्ति हासिल करने में सफल हो जाते थे। ऐसे लोगों के किस्से आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के दौर की शुरुआत से पहले भी मिल जाएंगे। उन्हें व्यक्तिगत स्वतंत्रता का फायदा उठाने का मौका मिल जाता था। विज्ञान और प्रौद्योगिकी का दौर शुरू होने के बाद ऐसे लोगों की संख्या में हजारों गुना वृद्धि हो गई होगी।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के उपभोग का दायरा बढ़ जाने के कारण और विज्ञान व प्रौद्योगिकी की विशाल उपलब्धियों के कारण 19 वीं शताब्दी में जो आदर्शवादी ढांचे बनाए गए थे उनसे भी मुक्ति पाने में मदद मिली है। इसका सबसे ज्यादा असर परिवार पर पड़ा है। इन परिवारों का कोई व्यापक या गहरा कुलीय आधार तो था नहीं। न ही उन पर देसी समाज के रीति-रिवाजों का कोई बंधन था। उनका आधार तो संपत्ति और सत्ता ही रहा था। इसलिए परिवार की आदर्शकृत अवधारणा तो टूटनी ही थी। लेकिन यूरोप या अमेरिकी परिवार में जो वास्तविक परिवर्तन हुआ है वह ऐतिहासिक रूप से उतना

सौकाने वाला नहीं है जितना आज हमें बताया जाता है। आज के पश्चिम में परिवार कुछ-कुछ सराय जैसा दिखाई देता है जिसमें रहने वाले लोगों में कुलीय भावना जैसी कोई चीज नहीं होती। इन परिवारों में आमतौर पर संपत्ति जैसा कुछ नहीं दिखाई देता। मगर पहले भी हालात कोई इससे बहुत अलग नहीं रहे। यह बात विशेष कर उन लोगों को समझनी चाहिए जो पश्चिमी समाज को अपने लिए प्रकाश पुंज जैसा समझते हैं कि वहां खासतौर पर ब्रिटेन और अमेरिका में बहुत कमजोर पारिवारिक व्यवस्था रही है।

दास प्रथा, सामंतवाद या सर्वहारा जैसी परिस्थितियों के कारण पश्चिमी समाज में पारिवारिक संबंधों के पनप सकने लायक माहौल ही नहीं रहा। आज हम यूरोप में जिस परिवार के टूटने की इतनी बात करते हैं वह केवल परिवार की एक 19 वीं सदी वाली आदर्शकृत अवधारणा का टूटना ही है। यही वजह है कि इस टूट की या तो पश्चिमी समाज के वे मध्य स्तरीय लोग ज्यादा बात करते हैं जिन्हें अपनी शिक्षा-दीक्षा के दौरान परिवार की यह आदर्शकृत अवधारणा धुटाई गई थी या फिर हमारे जैसे लोग उसकी ज्यादा बात करते हैं जो इस तरह की रूमानी अवधारणाओं को पाले हुए हैं। पश्चिम का सामान्य व्यक्ति जिसे अपने यहां की परिस्थितियों का सहज ज्ञान है परिवार के टूटने की ऐसी बात करके चिंतित नहीं होता।

पश्चिमी यूरोप या अमेरिका में सत्ता और संपत्ति के केंद्रीकरण व व्यक्तिगत स्वतंत्रता संबंधी विचारों ने इस बात की तो कोई गुंजाइश ही नहीं छोड़ी थी कि वहां समाज जैसी कोई चीज उभर सके। यूरोप के स्लाब इलाकों में समुदाय बनाने की तरफ प्रवृत्ति जरूर दिखाई देती है जैसा कि रूसी मीर से दिखता है। हो सकता है कि कुछ जर्मन इलाकों में भी ऐसी ही प्रवृत्ति रही हो जैसी कि जर्मन मार्क से लगता है। इसके अलावा सत्ता और संपत्ति के केंद्रीकरण व व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विचार के बावजूद पश्चिमी यूरोप में समाज की मान्यता पूरी तरह नहीं मर पाई। समय-समय पर विभिन्न समुदाय बनते रहे। लेकिन वे ज्यादातर असहमत लोगों द्वारा बनाए गए। उन लोगों द्वारा जो उस समय के धार्मिक या वैचारिक आग्रहों के खिलाफ खड़े हुए थे। यह समुदाय एक केंद्रीकृत और व्यक्तिवादी ढांचे में दुर्लभ सामाजिक इकाइयों की तरह थे।

भारत और एशिया व अफ्रीका के बहुत से इलाकों में, यहां तक कि यूरोपीय लोगों का नियंत्रण होने से पहले तक, अमेरिका में भी समाज की अवधारणा गहरे स्तर पर रही है। इसलिए यहां व्यक्ति की स्वतंत्रता को एक दूसरी दृष्टि से देखा गया। परिवार और शिक्षा के स्वरूप और उनकी संस्थाओं

के अर्थ और ढांचे के बारे में भी यहां के लोगों ने भिन्न तरीके से सोचा।

काफी पुराने समय से भारत के लोग अपने आपको गांव, कस्बे या तीर्थों को केंद्र बना कर अथवा जाति या उद्योग-धंधों को केंद्र बना कर संगठित करते रहे हैं। लेकिन इनमें से कोई भी संगठन दूसरे से अलग-थलग नहीं होता था। उदाहरण के लिए हर व्यक्ति स्थानीय इकाई का भी सदस्य होता था, जाति का भी और शिल्प या उद्योग-व्यापार संबंधी श्रेणी का भी। इसी तरह स्थानीय इकाइयां, जातियां और विभिन्न शिल्पों की श्रेणियां भी अपनी तरह की दूसरी इकाइयों से या दूसरी तरह के संगठनों से जुड़ी होती थीं। कोई आदमी किसी एक जाति का सदस्य है तो इसका यह मतलब नहीं है कि वह दूसरे उद्देश्यों से बने संगठनों में अपनी इच्छा से भाग लेने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं। उदाहरण के लिए वह किसी भी विद्या परंपरा, कला परंपरा, धार्मिक संप्रदाय या शिल्प से जुड़ने के लिए स्वतंत्र था। दुनिया के दूसरे देशों की तरह इन संस्थाओं से और वर्गों से उसके संबंध अस्थायी ही थे जबकि अपनी जाति या अपने देश से वह कहीं गहरा और स्थायी संबंध महसूस करता है।

भारत के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि एक सभ्यता के नाते तो वह बहुत पुराने जमाने से ही इकाई माना जाता रहा है लेकिन उसकी बुनियादी राजनैतिक इकाइयां तो किसी छोटे इलाके में ही सीमित होती थीं। भारत के इतिहास में ये राजनैतिक इकाइयां सैकड़ों में नहीं तो दर्जनों में तो रही ही हैं। यहां चक्रवर्ती राजा की अवधारणा भी रही है। राम, अशोक या चंद्रगुप्त विक्रमादित्य को चक्रवर्ती सम्राट माना जाता रहा है। इसी तरह चोल या विजय नगर के राजा, यहां तक कि अकबर चक्रवर्ती राजा होने का सपना संजोते रहे। लेकिन चक्रवर्ती राजा तो एक पद या जिसे दूसरे राजा श्रेष्ठता के कारण सम्मान देते थे। उसी तरह जिस तरह कि किसी संन्यासी, ऋषि, किसी महान कवि या विद्वान को श्रेष्ठ समझ कर उसे सम्मान दिया जाता है।

चक्रवर्ती सम्राटों में अनेक गुण होते होंगे या अनेक तरह की प्रतिभाएं होती होंगी। लेकिन उनका भारत पर प्रशासन नहीं चलता था और न ही उन्हें देश के सभी हिस्सों का राजस्व हासिल होता था। उन्हें पूरे देश की सेना के सर्वोच्च अधिपति जैसा भी कुछ नहीं माना जाता था। यह सब काम और अधिकार तो उन लोगों के पास थे जो बुनियादी राजनैतिक इकाइयों में शासन करते थे। इन बुनियादी राजनैतिक इकाइयों में हजारों स्थानीय इकाइयां या नाडू और खाप जैसी बड़े क्षेत्र में फैली हुई इकाइयां शामिल थीं। जिस तरह के संबंध चक्रवर्ती राजाओं और स्थानीय राजाओं के बीच थे उसी तरह के संबंध

इन राजाओं और स्थानीय इकाइयों के बीच रहे होंगे। इस तरह संप्रभुता तो दरअसल स्थानीय इकाई में ही होती थी। उससे ऊपर की राजनैतिक इकाइयों के पास तो केवल वही अधिकार और कर्तव्य तथा साधन होते थे जिन्हें उनको सुपुर्द किया गया हो। ये अधिकार और कर्तव्य या राजस्व संबंधी साधन कुछ इलाकों में काफी मात्रा में उन्हें सुपुर्द किए गए हो सकते हैं। लेकिन ऐसे मामलों में भी उनकी शक्ति मुख्यतः प्रशासनिक ही थी।

इन राजाओं को अपने आप में कानून नहीं माना जाता था। शासन के विधि-नियमों की व्याख्या तो धर्म द्वारा स्थानीय रीति-रिवाजों द्वारा पहले से ही हुई रहती थी। इस व्याख्या को समय-समय पर जातियों या औद्योगिक श्रेणियों द्वारा सामूहिक विचार-विमर्श के जरिए बदला या सुधारा जाता रहता था। सभ्यता के नीति-निर्देशक तत्वों के बारे में बड़े ऋषियों या विद्वानों द्वारा नई-नई व्याख्याएं की जाती रहती थीं। इस सारी व्यवस्था में बहुत सी कमजोरियां रही होंगी। उसके कुछ पहलू बराबरी की मनवीय भावना भी कभी-कभी लांघते नजर आ सकते हैं। यह व्याख्या व्यक्तिगत या जातीय महत्वाकांक्षाओं से भी प्रभावित होती रही होगी। ये सब कमजोरियां हमारे यहां भी उसी तरह आती रही होंगी जिस तरह दूसरे सभी राजनैतिक और सामाजिक संगठनों में पाई जाती हैं। इन सब कमजोरियों के बावजूद जिस तरीके से भारत के लोग अपने आपको संगठित करते रहे वह हमारे लिए महत्व रखता है। इसके आधार पर हम अपने बारे में सही समझ बना सकते हैं। हमारे यहां आज भी नए-नए समुदाय उसी पुराने तरीके पर बनते रहते हैं और अपने दायरे में वे काफी स्वायत्तता हासिल कर लेते हैं।

भारतीय समाज बनाम पश्चिमी समाज व्यवस्था —2

इस तरह हमारे यहां परिवार एक व्यापक और अंतर्गठित समाज का अंग रहा है। वह अनिवार्य रूप से कुटुंब, गोत्र, जाति और देश से जुड़ रहा है। इसलिए यह पति-पत्नी और बच्चों की छोटी इकाई में कभी सीमित नहीं रहा। परिवार के दैनिक काम जैसे निवास, भोजन बनाना, साफ-सफाई आदि इस बुनियादी इकाई में सीमित रह सकते हैं। लेकिन संबंधों के मामले में पति-पत्नी या बच्चे, सभी अनेक स्तरों पर जुड़े होते हैं। हमारे यहां विवाह को शायद ही कभी व्यक्तिगत घटना माना जाता हो, वह तो एक सामाजिक घटना है। विवाह के सूत्र में बंधने वाले युवक या युवती के बीच में चाहे जितना गहरा आकर्षण रहा हो; उनका विवाह तो उनकी जाति और गोत्र या कुटुंबों के बीच हुआ रिश्ता ही माना जाता था, और स्थानीय समाज के लिए वह एक महत्वपूर्ण घटना होती थी। इन सामाजिक संबंधों के कारण कभी-कभी विवाह के इच्छुक युवक और युवतियों की स्वतंत्रता में जरूर बाधा पड़ती होगी लेकिन मुसीबत में या जरूरत पड़ने पर यह कौटुंबिक और सामाजिक रिश्ते ही जीवन की अनेक समस्याओं को आसान कर देते होंगे।

इन सामाजिक संबंधों और विवाह संबंधों के कारण शिक्षा या दूसरे सभी सामाजिक कार्य समाज की जरूरतों और समुदायों के अपने काम-धंधे की जरूरतों से निर्धारित होते रहे हैं। यही वजह है कि अधिकांश लोगों की शिक्षा ऐसी संस्थाओं में होती थी जिन्हें हम आज पड़ोस के स्कूल जैसी कोई संज्ञा दे सकते हैं। शिक्षा के बारे में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि वह विभिन्न शिल्पों के विशेषज्ञ माने गए लोगों द्वारा दी जाती थी। ये लोग छात्र के माता-पिता भी हो सकते थे। शास्त्रीय या अधिक विशेषता वाली शिक्षा तो विद्यालयों और विद्यापीठों में ही दी जाती थी और वे आज के स्कूलों और कॉलेजों या उच्च शिक्षा संस्थानों जैसे ही थे।

हमारे भारतीय समाज में जीवन की दिशा तय करने के बारे में, व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बारे में और सामाजिक सुरक्षा के बारे में क्या स्थिति थी और प्राचीन यूरोप या आज के यूरोप के स्त्री-पुरुषों और बच्चों को जो कुछ और जितना कुछ हासिल हो रहा है, इन दोनों की तुलनात्मक स्थिति को तो

गहरे विश्लेषण और बहस से ही समझा जा सकता है। इस विश्लेषण और बहस के जो भी नतीजे निकले लेकिन हमें अपने भविष्य के बारे में फैसले लेने से पहले यह गारंटी जरूर कर लेनी चाहिए कि दोनों सम्यताओं की बुनियादी अवधारणाओं के बारे में कोई घालमेल और गलतफहमी न रहे। हर सम्यता को अपने विचारों का ढांचा समझ लेना चाहिए और उसके हिसाब से दुनिया को देखते और समझते हुए अपने भविष्य की तस्वीर बनानी चाहिए।

हमारे यहां आज पुराने ढांचे और तौर-तरीकों की आवश्यकता दिखाई दे सकते हैं लेकिन वह तेजस्विता नहीं जो 1950 के आसपास भी दिखाई देती है। करीब दो सौ साल पहले अंग्रेजी शासन के शुरू होने के साथ साथ हमारे समाज और हमारी राज्य व्यवस्था में एक गहरी दरार पड़ गई थी। उसी भी पहले उत्तर और पश्चिम भारत के मुस्लिम शासित इलाके में भी राज्य और समाज में खाई देखी जा सकती है। मुस्लिम शासकों का शासन करने का ढंग और मुहावरा भी भारतेतर विचारों में ढला था। राज्य और समाज के इस अलगाव ने मुस्लिम शासन के दौरान दोनों को ही एक दूसरे के बारे में शंका प्रस्तुत रखा और उससे दोनों ही कमजोर हुए होंगे। इस जड़ता और कमजोरी के कारण ही बाद में यूरोपीय लोग हमें जीत सके और पराधीन बना सके।

अंग्रेजों के जमाने में राज्य और समाज की खाई के और खतरनाक परिणाम निकले। उसने भारतीय समाज को सब तरह से बाँट और तोड़ दिया। समाज की बुनियादी इकाइयां जीवन-मरण के संघर्ष में पड़ गईं, और अपने भीतर सिकुड़ती चली गयीं। इसने भारत को कायरता, गरीबी और अराजकता में पहुंचा दिया। दूसरी तरफ राज्यतंत्र निरंकुश होता चला गया। उसमें कर्तव्य की सारी भावना नष्ट हो गई और आशंकाओं से इतना भर गया कि लोगों में होने वाली जरा-सी फुसफुसाहट उसे अपने लिये बड़ी चुनौती नजर आने लगी और वह उसमें अपने अस्तित्व के लिये ही संकट देखने लगा।

राज्य के बड़ी नाजुक स्थिति में होने की यह भावना अंग्रेजों के समूचे शासन काल में बनी रही। खास तौर पर 1820 में, 1857-58 में और 1893 के गौहत्या विरोधी व्यापक आंदोलन के दौरान तो अवश्य ही। तथा 1930-31 के नमक सत्याग्रह के दौरान वह काफी गहरी दिखाई देती है। उस समय तो इस भावना का थोड़ा बहुत होना समझ में आ भी सकता है। मगर यह भावना तो अंग्रेजों के जाने के बाद भी हमारे राज्यतंत्र में बनी हुई है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारे राजनैतिक ढांचे में कहीं कोई भारी गड़बड़ी है।

इस गड़बड़ी की जड़ें तो दरअसल और भी ज्यादा गहरी हैं। 1947 से

पहले आजादी हासिल करने के लिये या जैसा कि अंग्रेजों ने कहा है सत्ता के हस्तांतरण के लिये जिस तरह की बातचीत चली और जिस तरह के समझौते किये गये, उनका बाद में जो कुछ परिणाम हमारे सामने आ रहा है उस पर काफी असर पड़ा है। इन समझौतों का मुख्य उद्देश्य उन लोगों के पक्ष में इतिहास का चक्र मोड़ना था जो पश्चिमी विचारों के ढांचे में ढल चुके थे, और उन लोगों को किनारे करना था जो देसी तौर तरीकों की वकालत करते रहते थे। पश्चिमी विचारों में ढले हुए आधुनिकतावादी और अपने समाज से कटे हुए लोग कोई रातों रात नहीं पैदा हो गये थे। वे लोग कोई एक शताब्दी में फले फूले हैं। विशेषकर 1829 में जब ब्रिटिश गवर्नर जनरल बेंटिक ने यह लिखा था कि — पुराने जमाने में जो साधन गरीबों और ब्राह्मणों को बांटने में खर्च किये जाते थे उन्हें अब यूरोपीय लोगों के स्वागत और मनोरंजन पर खर्च किया जाता है। बेंटिक इस समाचार से संतुष्ट हुआ था कि निरर्थक कामों में खर्च किया जाने वाला पैसा बहुत बड़ी हद तक घटा दिया गया है।

1946 से 1949 के बीच स्वतंत्र भारत का संविधान जिस तरह तैयार किया जा रहा था उससे भी इन परिस्थितियों को समझा जा सकता है। स्वतंत्र भारत के जन प्रतिनिधि इस संविधान पर विचार करने के लिये संविधान सभा के रूप में बैठे जरूर पर करीब-करीब हर मामले में उन्हें अंगूठा लगाने की ही भूमिका निभानी पड़ी। इस संविधान को बनाने के लिये विशेषज्ञों की कई समितियां बनाई गयी थीं। मगर उनके अधिकांश सदस्य दूसरे कामों में व्यस्त थे। इसलिये हमारे संविधान का प्रारूप भारत पर शासन करने के लिये खड़े किये गये अंग्रेजी ढांचे के आधार पर ही बनाया गया था। उसमें जहाँ-तहाँ यूरोप के देशों या अमेरिका के संविधान की कुछ विशेषताओं को यहाँ-वहाँ चिपका दिया गया। संविधान सभा में संविधान के प्रारूप के अनेक पहलुओं पर काफी गरमागरम बहस हुई। लेकिन उसके बुनियादी ढांचे में कोई खास परिवर्तन नहीं किया जा सका। इसके लिये तर्क यह दिया गया कि कोई बड़े परिवर्तन किये गये तो संविधान निश्चित कर दी गयी तारीख तक तैयार नहीं हो पायेगा और लटक जायेगा। संविधान का यह प्रारूप दो लोगों ने — कानून मंत्री और संवैधानिक सलाहकार ने तैयार किया था।

पहले से तय की गयी निश्चित तारीख तक संविधान बना देने की मजबूरी की बात संवैधानिक सलाहकार ने संविधान सभा के अध्यक्ष के सामने तब रखी जब इस बात को लेकर गरमा-गरम बहस छिड़ी हुई थी कि हमारे नये राजनैतिक ढांचे की बुनियादी इकाई क्या होनी चाहिए। वे स्थानीय इकाइयां

जो पुराने जमाने से हमारे राजनैतिक ढांचे की बुनियाद बनी हैं या कि बालिग व्यक्ति जैसा कि पश्चिमी दुनिया में होता है। इस मुद्दे पर पूरी तरह विचार नहीं होने दिया गया। संविधान बनाने की तारीख को कुछ इस तरह पवित्र मानकर यह बहस रोक दी गई जैसे कि कोई शुभ मुहूर्त टल जाने वाला हो। संविधान के प्रारूप में नयी बातें जोड़ी जरूर गयीं लेकिन उनसे संविधान का परिमाण ही बढ़ा होगा और उस संविधान को तकनीकी दृष्टि से चुस्त दुरुस्त बनाया गया होगा। लेकिन जहां तक भारतीय पद्धतियों के अनुरूप ढालने की बात है कुछ नहीं किया गया। भारतीय जरूरतों के लिहाज से यह संविधान बिल्कुल ही बेमेल है और अनजाने ही उसने हमारे राजनैतिक ढांचे को अंग्रेजी शासन वाले जमाने से भी ज्यादा जड़ बना दिया है।

भारत का पुनर्निर्माण

कुछ वर्ष पहले हमारे देश में स्वतंत्रता की पचासवीं वर्षगाँठ का उत्सव धूमधाम से मनाया गया। उत्सव के शुरू में चार—पाँच दिन तो भारत की लोकसभा व राज्य सभा में इस स्वतंत्रता की परिभाषा और आधारों को लेकर काफी कुछ कहा गया। देश के अपने आदर्शों, मर्यादाओं, विज्ञान और तकनीक पर चर्चा रही। वर्ष के अंत में देश की अपनी कला से संबंधित उत्सव हुए, और इनमें न केवल भारत के कोने—कोने के गान, नृत्य, कथायें सामने आईं अपितु निकटवर्ती बौद्ध देशों के विद्वानों और कलाकारों ने भी भाग लिया। काशी में रामायण और मध्यप्रदेश में आल्हा—ऊदल प्रमुख रहे और कुछ ही दिन पहले केरल में एक वर्ष का भगवद्गीता का अभियान भी आरंभ हुआ।

इस तरह का उत्सव मनाना तो ठीक है। लेकिन इस पचास बरस की स्वतंत्रता के बाद अधिकांश लोगों को, शायद जो भारत का तंत्र चलाने में लगे हैं उनको भी, लगा — कि इस पचास वर्ष की उपलब्धियाँ नये भारत को खड़ा करने में उसका आधार बनाने में काफी नहीं हैं। 1942 में, जब कि भारत में जोरों से कहा जा रहा था 'अंग्रेजों वापिस जाओ,' उस समय अंग्रेजी और अमरीकी सरकार के बीच भारत का क्या किया जाए इस विषय में कुछ बातचीत चलती थी। उस समय अगस्त 1942 में अमरीका के राष्ट्रपति रुजवेल्ट का अंग्रेजों को यह सुझाव था कि वे चाहे जो भी कदम भारत के बारे में उठाएँ लेकिन उन्हें यह ध्यान रहे कि (अन्त में पश्चिमी दृष्टि यह है कि) भविष्य का भारतवर्ष पश्चिम की 'ऑरबिट' में, छत्रछाया में जीए। रुजवेल्ट ने तो यहाँ तक कहा कि भारतवर्ष के लोग एशियाटिक (एशिया के) नहीं कहे जा सकते, वे तो इंडो—यूरोपियन हैं, और इसलिए यूरोप और अमरीका के करीब हैं, और संबंधी जैसे हैं।

1947 में हम जाने—अनजाने, रुजवेल्ट की इस सोच पर चलने लगे और जैसा पश्चिम चाहता था उसकी ऑरबिट में, छत्रछाया में रहने लगे। इससे हम देश के और स्वतंत्रता के ध्येय से तो हटे ही, अंग्रेजों द्वारा स्थापित किए गए शासन व तंत्र से (जिसमें शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य, बैंक, स्टॉक मार्केट और अंत में कृषि व पशुपालन भी बंध गया।) घनिष्ठता से बंध जाने के कारण देश के 90—95 फीसदी लोगों से भी अलग हो गए। परिणाम हुआ कि अब हमारे यहाँ शासन व तंत्र से जुड़े लोग ही (जिन्हें शासन पालता—पोसता है) पहले दर्जे के

नागरिक रह गये। बाकी सब तो देश में रहते हुए भी, दूसरे दर्जे के बन गए। जो साहस, आत्मविश्वास, देश को बनाने का उत्साह, सन् 1947 से पहले आया था, उस पर पिछले पचास बरस ने बहुत हद तक पानी फेर दिया। जब 1942 में रुजवेल्ट ने यह सुझाव दिया कि भारतवर्ष पश्चिमी, 'ऑरबिट' में (छत्रछाया में) रहे, तो उनका व अंग्रेजों का शायद यह तात्पर्य नहीं रहा होगा कि हम उनकी तरह शक्तिशाली, संपन्न व आधुनिक बन जाएँ। लेकिन जब हमने अपने से 1945—47 में उनका रास्ता पकड़ा तब अगर हमारे में, यूरोप कैसे बना, इसकी समझ व शक्ति होती तो हो सकता है हम इन पचास बरसों में यूरोप व अमरीका जैसे बन जाते, जैसे कि जापान 1885 से 1930 के दौरान बन ही गया। लेकिन हमारे में ऐसी शक्ति व समझ न तब थी, न अब दिखती है।

आज देश में जो हो रहा है वह तो एक बहुत निचले स्तर का यूरोप व अमरीका का अनुकरण हो रहा है। यूरोप का वैचारिक प्रभाव तो हमारे यहाँ 1820 से शुरू हो गया था; यह क्रमशः बढ़ता गया और शायद 1900 तक देश के राजनैतिक, शैक्षणिक व व्यापारिक नेतृत्व इससे प्रभावित लोगों के हाथों में चला गया। शायद 25—30 बरस (1915—1945 तक) यह प्रभाव कुछ घटा और दब—सा भी गया। लेकिन 1945 के बाद तो पश्चिमी प्रभाव में आए लोग फिर से आगे आए और 1947 में उन्होंने ही देश को चलाने की बागडोर संभाली। वृहत समाज और उसका नेतृत्व व संचालन करने वाले पीछे खदेड़ दिए गए। अगर उनमें से कुछ राजनीति में रह भी गए तो उनका काम केवल हाथ उठाने का रह गया है। पिछले 50 बरस में यूरोपीय वैचारिक प्रभाव में पड़े लोगों की संख्या व नेतृत्व बढ़ा ही है। केवल उनमें यूरोपीय शक्ति व समझ अनेक कारणों से कुंठित रह गई है।

आज हम अपने वृहत समाज व जन को भी पश्चिमी विचार की, विज्ञान की, तकनीकी की, व्यवस्थाओं की जंजीरों से बाँधकर पूरे दासत्व की ओर ले जा रहे हैं। यूरोप और अमेरिका की तो प्लेटो और अरस्तू के समय से ही मान्यता है कि दासत्व ही साधारण मानव—समाजों के लिए उचित व्यवस्था है। यूनानी और ईसाइयत के विचार से भी समग्र प्रकृति, उसके पर्वत, नदियाँ, झरने, समुद्र, वृक्ष, पशु—पक्षी, कीड़े—मकोड़े, इत्यादि मनुष्य के उपयोग के लिए ही बने हैं। मनुष्य उन्हें जैसे चाहे रखे। यूनानियों और यहूदियों के 'ओल्ड टेस्टामेंट' के हिसाब से (जिसे ईसाई व इस्लाम दोनों मानते हैं) मनुष्य—मनुष्य में भी फर्क है। कुछ थोड़े ही मनुष्य—मनुष्य माने जा सकते हैं, बाकी तो पशु व शेष प्रकृति के समान हैं। आवश्यकता होने पर राजपुरुष उन्हें बगैर किसी कानूनी व्यवस्था में

पड़े मार सकते हैं, जैसे कि किसी पागल कुत्ते को। पिछले 100–200 वर्ष की यूरोप व अमरीका की समृद्धि व बदलाव के होते हुए भी मूलतः यूरोप और अमरीका के लोग आज भी दासत्व के स्तर पर ही हैं। अगर ऐसी मूल स्थिति उनकी है तो बाकी संसार के मनुष्य और दूसरे प्राणियों को तो कभी भी समाप्त किया जा सकता है।

ऐसी स्थिति में से हम निकलना चाहते हैं तो हमें अपने देश की परंपराओं, मान्यताओं, विद्याओं और भारतीय स्वभाव के आधार पर नया भारत बनाना शुरू करना चाहिए। अंग्रेजों से मिले तंत्र व व्यवस्था को पूरी तरह छोड़ने का हमें शीघ्र ही निश्चय कर लेना चाहिए, और ऐसी योजना बनानी चाहिए कि अधिक से अधिक 20–25 बरस में हम अपने पाँवों पर खड़े हो जाएँ, हमारी अपनी व्यवस्थाएँ पूरी तरह स्थापित हो जाएँ और अंग्रेजों के दिए तंत्र व्यवस्था को हम ताक पर रखें, पुराने लेखागारों में कभी अध्ययन के लिए रख दें।

हमें सभी बातें कुछ नए सिरे से करनी होंगी। हमें ऐसा मान लेना चाहिए कि पिछले 200–250 बरस हमारे लिए विपत्ति के ही रहे हैं और उनमें जो कुछ हुआ उससे भारत वर्ष में रहने वालों का विनाश ही हुआ। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हमारी शुरुआत 1700 या 1750 में जो था उसी से होगी। पिछले दो-ढाई सौ बरस में हमारे यहाँ जो बदला है, उसमें से शायद कुछ हम अपने काम में ले पाएँ। आगे भी, बाकी पृथ्वी पर पिछले पचास बरसों में जो बदलाव आए होंगे उनमें से भी कुछ हमारे काम के हो सकते हैं। लेकिन बाहर का जो भी हम अपनाएँगे वह हमारे अपने विचारों, आधारों और स्वभाव के अनुकूल होगा तभी वह हमारे काम का होगा।

आज सबसे पहले तो हमें अपनी कृषि, वन-व्यवस्था व पशुपालन पर ध्यान देना होगा। ये ही हमारे समाज के मुख्य भौतिक आधार हैं। पश्चिम से आए हुए तरीकों को छोड़कर, हमें अपने तरीकों, बीजों, फसलों, सिंचाई-व्यवस्थाओं पर आना होगा और जो आवश्यक बदलाव उनमें करने हों वे भी करने होंगे। हमें अपनी उपज भी बढ़ानी होगी, जैसे कि वह 1800 से पहले होती थी और यह भी देखना होगा कि देश में कोई भी (मनुष्य, पशु या अन्य जीव-जंतु) भूखा नहीं रहे। पशुओं और मनुष्यों का भूखे रहना हमारे लिए सबसे बड़ा अभिशाप है।

यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि भारतवर्ष जल्दी से जल्दी विदेशों से अनाज, तेल और खाने-पीने के दूसरे सामान लेना बंद कर दे। हमारे महाद्वीप जैसे देश में सभी कुछ पैदा किया जा सकता है। किसी पदार्थ की कमी होगी तो

हमें उतनी कमी से सहन करना चाहिए। विदेशों को हमारी कुछ पैदावार की विशेष आवश्यकता रहे तो हमें उन्हें कुछ एक फीसदी के करीब तक देना उचित ही है।

भारत केवल कृषि-प्रधान देश नहीं था। पिछले 10–12 बरसों के अध्ययन ने यह बतलाया है कि 1750 के करीब भारतवर्ष और चीन के क्षेत्र में कुल विश्व का 73 प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन होता था। 1820 में भी यह उत्पादन 60 प्रतिशत तक रहा। सैकड़ों वस्तुएँ तब बनती होंगी। यह सब हमें दोबारा आज की आवश्यकता के अनुसार स्थापित करना पड़ेगा।

हमारे बच्चों का पालन और शिक्षा पिछले 150–200 वर्षों में बुरी तरह से बिगड़ी है। इसे फिर से ढंग से व्यवस्थित करना होगा। गाँवों, कस्बों व शहरों के मुहल्लों में नई शुरुआत तो अभी से हो सकती है। इसमें आवश्यकता है कि स्थानीय युवा वर्ग का इस काम में सहयोग मिले। शिक्षा का रूप क्या होगा इस पर सोचना और उसको कार्यान्वित करना हमारी दूसरी प्राथमिकताएँ हैं। 6 से 12–13 बरस तक की शिक्षा का ध्येय तो यह होगा कि इन बरसों में हमारे बच्चे सृष्टि, प्रकृति और उसमें रहने वाले सब जीवों से परिचित हो जाएँ, उनका जीवन और स्वभाव समझें, उनसे मित्रता बनाएँ और 12–13 बरस की उम्र में अपने को अपने देश और गाँव, नगर इत्यादि का नागरिक मानने लगेँ और समाज की वार्ता में बराबर का भाग लेने लगेँ। जो भी जीवन को चलाने का काम उन्हें करना होगा वह मुख्यतः तो इसके बाद दो-तीन बरस में सीखा जा सकता है। अगले एक बरस में अगर देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं में 8–10 पुस्तकें इतिहास, भूगोल, स्थानीय प्रकृति और दूसरे जीव इत्यादि पर लिखी जा सकें तो इस शिक्षा की रूपरेखा बनाने में बहुत सहायक होंगी।

अपने पड़ोसियों को भी, जिनके साथ हमारा हजारों वर्षों का घनिष्ठ संबंध रहा है, फिर से समझना जरूरी है, क्योंकि आज हम यूरोप व अमरीका से चालित दुनिया में रहते हैं इसलिए इनको भी और इनकी मान्यताओं, स्वभाव इत्यादि को भी, समझना हमारे लिए आवश्यक है। वैसे यूरोप और अमरीका से हम मित्रता रखते हुए भी, उनसे आवश्यक दूरी रख सकें तो वह हमारे लिए ही नहीं सभी के लिए शुभ रहेगा।

यह आवश्यक है कि हम अपने करीब के देशों से – विशेषतः चीन, कोरिया, जापान, थाईलैण्ड, कंबोडिया, इंडोनेशिया, वियतमान, श्रीलंका, नेपाल, म्यांमार (बर्मा), बांग्लादेश, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान से करीबी संबंध दोबारा कायम करें। पिछले 500 बरसों में हमारे ये संबंध टूटे और शिथिल हुए

हैं। लेकिन इन देशों की सोच व स्वभाव हमारे देश की सोच व स्वभाव से बहुत मिलता-जुलता है। यहाँ तक कि इन सब देशों में गौतम बुद्ध का प्रभाव भारत से गया। उसी समय या उससे भी पहले से इनमें से अधिक देशों में रामायण व महाभारत का प्रसार भी रहा, और इन सब में भी अयोध्या नाम के नगर तो मिलते ही हैं, मथुरा के नाम के भी। अयोध्या व मथुरा के नाम के नगर तो तकरीबन 1500 तक इन देशों की राजधानियाँ हुआ करती थीं।

अपने को समझने और पहचानने के लिए अपने पुराने समाज और जीवन के भौतिक तथ्य जानना भी आवश्यक है। यह काम शीघ्र ही विद्या-केंद्रों के द्वारा पी.एच.डी., व इसी तरह के अध्ययन-कार्यक्रम में होने चाहिए। अगले 6-7 महीने देश के 10-20 क्षेत्रों, जिलों, इत्यादि में ऐसी खोज शुरू की जा सके तो 5-7 बरस के अंदर हमें अपने पुराने समाज की व्यवस्था, उसका जीवन, विद्या, हुनर इत्यादि के बारे में काफी जानकारी मिल जाएगी।

नए भारत की रचना तभी ठीक तरह से संभव होगी जब हम अपनी परंपराओं, मान्यताओं, धारणाओं और स्वभाव को समझ पाएंगे। कहा जाता है कि महाभारत के युद्ध के बाद, उसमें जो हुआ और उससे जो परिणाम निकला, उन्हें समझने के लिए हमारे ऋषि व दूसरे विद्वान बरसों तक नैमिषारण्य में बैठे और आने वाले समय को केन्द्र में रखकर बीते उक्त काल खंड को समझने में लगे रहे। आज का समय भी महाभारत के उक्त काम से कुछ मिलता-जुलता ही है। हमारी परंपराओं, दर्शन और गए समय पर आज ध्यान रखते हुए विचार आवश्यक है। इसके लिए 3-4 नए विद्या केंद्र स्थापित हों तो हम भविष्य में कैसे क्या करना है, यह निश्चित कर सकेंगे।

अगर सब देशों के दार्शनिक, समाजशास्त्री, मनुष्य की आज की स्थिति को और पिछले 500 वर्षों में जो स्थिति बनी है, कैसे मनुष्य (पुरुष और स्त्री दोनों) का आत्मसम्मान घटा है, अकेलापन बढ़ा है और कैसे दोनों एक दूसरे के लिए केवल क्षणिक भोग की वस्तु रह गए हैं, को समझने का प्रयास करते तो हो सकता है पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों का आत्मसम्मान कुछ लौटता और उनके छोटे-छोटे प्राकृतिक समूहों में परस्परता फिर से पनपने लगती और व्यक्तियों का आलस्य व उदासीनता कम होती। लेकिन ऐसा तो अधिकतर संसार में अभी होता दिखता नहीं है। फिर भी यह संभव है कि जिन क्षेत्रों में बौद्ध मत का प्रभाव रहा है और जहाँ भारतीय व चीनी (इसमें जापान, कोरिया, कंब्रोज, इंडोनेशिया सभी आ जाते हैं) मान्यताओं व परंपराओं का असर रहा है, वहाँ सब जीवों का आत्मसम्मान, उनकी अपने समूहों में पारस्परिकता व स्वतंत्रता काफी हद तक

शीघ्र ही वापस लाई जा सकती है। आर्थिक समृद्धि अपने में जरूरी है, विशेषतः ऐसे क्षेत्रों में जो पिछले 200-300 बरसों में छिन्न-भिन्न हो गए हैं और जहाँ अधिक लोगों में पिछले 150-200 बरस से कंगाली का बोलबाला है। लेकिन आत्मसम्मान, परस्परता और सामूहिक स्वतंत्रता आएगी तो आर्थिक समृद्धि भी क्रमशः आ ही जाएगी और समृद्धि की परिभाषा भी नए रूप लेने लगेगी।

जहाँ तक भारतवर्ष की बात है उसका पहला काम तो आज आत्मसम्मान, साहस, परस्परता और समूहिक स्वतंत्रता को देश में शीघ्रातिशीघ्र स्थापित करना है। यह हो जाएगा तो अन्य जटिल प्रश्न भी हल होने लगेंगे।

हमारे सपनों का भारत ?

हमारे सपने 1947 के दिनों में व 1942 के करीब क्या थे, यह सोचना आज शायद आसान है। उन दिनों तो एक तीव्र भावना थी, अच्छे-अच्छे ख्याल थे कि स्वाधीन होना है, और स्वाधीन होंगे तो सबको सम्मान से भोजन, कपड़ा, मकान मिलेगा, सामुदायिक जीवन होगा, शांति से रहेंगे और विश्व में भी शांति का ही सन्देश देंगे इत्यादि।

लेकिन किसी भी स्वप्न या लक्ष्य का स्वरूप, आत्मबोध तथा आत्मचित्र के आधार पर ही निर्धारित होता है। उस दृष्टि से देखें तो लगता है कि हमारा आत्मचित्र तो बहुत समय से हमारा अपना नहीं है। उन दिनों भी यही स्थिति थी। हमें अंग्रेजों ने और अंग्रेजी शिक्षा ने जो-जो सिखा दिया था, उसे ही हम अपना वास्तविक स्वरूप मानने लगे थे। जैसे, अंग्रेजों या उनकी शिक्षा का कहना था या उनकी शिक्षा थी कि 'भारत के ऊपर तो सदैव दूसरों ने ही राज किया है, भारत कभी स्वाधीन रहा नहीं।' वे यह भी कहते थे कि — उन्होंने हमें बचा रखा है, नहीं तो इस्लाम व पश्चिम के इस्लामी देश भारत को खा जायेंगे। हमारे इतिहास तथा शास्त्रों के बारे में भी वे जो कहते थे, उसे ही हम पढ़े-लिखे लोगों ने सत्य मान लिया था। बहुत से सुधार-आन्दोलन भी उसी मान्यता में से उपजे थे। अपने इतिहास के प्रति ग्लानि तथा हीनता का भाव शिक्षित भारतीयों में गहराई तक घर कर गया था। यह अवश्य है कि हम में से जो स्वाधीनता की तीव्र भावना से भरे थे, वे भारतीय अतीत को इस तरह से हीन दिखाने के प्रयासों को अस्वीकार करते थे।

यह भी था कि गांधी जी ने "हिन्द स्वराज" में पूर्व और पश्चिम की दो भिन्न-भिन्न सभ्यताओं की बात उठाई और यहां के जनमानस में पहले से ही बैठी अपनी सभ्यता की विशेषताएं दिखाई। उसका भी कुछ प्रभाव हमारे ऊपर था; लेकिन आधुनिक शिक्षित वर्ग में ज्यादातर तो हवा एक ही थी कि पश्चिम बहुत आगे बढ़ गया है, हमें भी उसी रास्ते पर तेजी से आगे बढ़ना है। ज्ञान और प्रेरणा, दोनों के लिए हम पश्चिम की ओर ही देखते थे। अपने वृहत् समाज के लोगों की उन्नति करनी है, कल्याण करना है, विकास करना है, यह भाव तो था; पर अपने समाज से कुछ सीखना भी है, वह स्वयं भी रास्ते की रुकावटें हट जाने पर कुछ कर सकता है, यह भाव बहुत कम था।

विश्व के बारे में हमारी जो धारणा थी, उसमें पश्चिम की शक्ति और सफलताएं ही प्रमुख थीं, उसकी विकृतियां, ऐतिहासिक क्रूरताएं, बर्बरताएं हमारे ध्यान में नहीं थीं। वे संसार के बारे में क्या विचार और धारणाएं रखते हैं, यह हमारी जानकारी में नहीं था। इस प्रकार न तो हमें स्वतंत्र आत्मबोध था, न ही सही विश्व-बोध। अपने बारे में भी हमारा आत्मचित्र उनके द्वारा गढ़ा हुआ था और उनके बारे में भी हमारी मान्यताएं किसी अध्ययन या स्वयं की सोच-समझ पर आधारित नहीं थी।

इसका कोई मामूली असर नहीं हुआ। अधिकांश सुधार-आंदोलन भारतीय इतिहास के प्रति ग्लानि का भाव जगाने वाले बन गए। और तो और, "स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" का उद्घोष करने वाले लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने भी 'ओरायन' में "आर्कटिक होम इन द वेदाज" में इतिहास की पश्चिम वालों की ही दृष्टि अपनाई।

ऐसा नहीं है कि स्वतंत्र विवेक में यह कमी ब्रिटिश-काल में ही आई। वस्तुतः समाज पर पड़ने वाले दबावों का प्रभाव साहित्य आदि में भी होता है। इसलिए हमारे जो महान ग्रन्थ हैं, महाकाव्य हैं, उनको भी उनकी रचना के समय और परिवेश के सन्दर्भ में ही देखना चाहिए। यह नहीं मानना चाहिए कि सभी कुछ प्राचीन काल से एक-सा ही है। वाल्मीकि रामायण और तुलसी की रामायण (रामचरित मानस) में जो अंतर है, वह अधिकांश समय के भेद से ही है। भिन्न-भिन्न स्मृतियों में भी अलग-अलग व्यवस्थाएं हैं, इसका कारण भी यही समय का अंतर है। अगर हम विवेक-बुद्धि से उन सबको नहीं देखेंगे तो भ्रांतियां स्वाभाविक हैं।

संसार के बारे में हमें आज अधिक जानकारी प्राप्त है। उसके प्रकाश में हमें संसार को और स्वयं को समझना चाहिए। लेकिन अभी तो दिखता यह है कि हमारा जो सबल वर्ग है, वह अपने समाज से बौद्धिक और भावनात्मक स्तर पर बहुत समय से दूर होता चला गया है। ब्रिटिश काल में इसने अंग्रेजों के आचार-व्यवहार और बोली तथा अभिव्यक्ति की विधियों को अंगीकार कर लिया। इससे ऐसी दृष्टि बनी कि हमारे एक अभिजन राजनेता ने 1945 में गांधी जी से कहा कि कोई यह कैसे कबूल कर सकता है कि गांव के लोगों में भी कोई सद्गुण और सामर्थ्य है, वे तो पूर्णतया मूर्ख ही हैं।

फलतः समाज के विकास के लिए हमने वे ही तरीके अपनाने शुरू किए जो पश्चिम के थे। 1938 ई. में श्री सुभाषचन्द्र बोस ने एक राष्ट्रीय योजना समिति बनाई थी, जिसके संयोजक वे स्वयं थे और अध्यक्ष थे श्री जवाहरलाल

नहेरू। उस समिति ने भी योजना का जो रूप सोचा, वह पश्चिमी ढंग का ही था।

इस तरह स्वतंत्र भारत में हम जिस रास्ते पर चले, उसकी नींव तो बहुत पहले पड़ गई थी। अब हमें यह समझना होगा कि हर सभ्यता और संस्कृति की अपनी-अपनी परम्पराएं होती हैं, उसके अनुसार ही वे सभ्यताएं विकास किया करती हैं। जैसे 1850 के यूरोप में जो विज्ञान व तकनीकी विकसित थी वह चीन में 2000 वर्ष पूर्व ही विकसित हो चुकी थी। लेकिन चीन ने बारूद बनाने की विधियों से उत्सवों आदि में काम आने वाली आतिशबाजियां व पटाखे बनाए, जबकि यूरोप ने अब से पांच-छः सौ वर्ष पहले वही विधि जानकर युद्ध और हिंसा के लिए हथियार बनाये। यह सभ्यताओं की दिशा की भिन्नता के कारण ही हुआ। ऐसा नहीं है कि दक्षिणी या पूर्वी एशिया के लोग विज्ञान और तकनीकी में उन्नत नहीं थे; लेकिन उनकी सभ्यता उन्हें मर्यादा सिखाती थी और हिंसक दिशाओं में बढ़ने से रोकती थी। यह उनकी अक्षमता नहीं, उनका विवेक था। भारत में भी इस्पात तथा लोहे के निर्माण की अपनी विकसित विधि थी। सन के पौधे के उपयोग से कागज बनाने तथा इसी तरह अलग-अलग वनस्पतियों, आदि से रंगाई के विविध रसायन बनाने की प्रौद्योगिकी भी विकसित थी। हर्षवर्धन के समय में और 18 वीं सदी में भी, उत्तर प्रदेश, बिहार इत्यादि में पानी से बर्फ बनायी जाती रही है। खेती और सिंचाई तथा जल-प्रबंध की अत्यंत विकसित प्रौद्योगिकी तो थी ही। लेकिन हमने उसमें से कोई विशालकाय और थोड़े से लोगों के पूर्ण नियंत्रण में चलने वाले ठाट नहीं खड़े किए।

यूरोप का स्वभाव प्राचीन काल से ही हिंसक रहा लगता है। विशेषकर इंग्लैंड और अमेरिका तो पिछले पांच सौ बरसों से पूरी तरह हिंसक स्वभाव के रहे हैं; वे दूसरों के अस्तित्व का आगे बढ़ना सह नहीं पाते, सबको अपने अधीन ही रखना चाहते हैं। पिछले सप्ताह यहीं दिल्ली में अमरीकी विद्वान चोम्स्की ने तो कहा ही है; पर यह केवल उनकी बात नहीं है, बल्कि यह सर्वमान्य ही है कि यूरोप और अमेरिका स्वभाव से ही हिंसक हैं। और देशों में भी समय-समय पर हिंसा तो रही ही है, लेकिन वे अधिकांशतः हिंसा को मर्यादित करते रहे हैं। दक्षिण व पूर्वी एशिया के लोग स्वभाव से मुख्यतः अहिंसक ही रहे हैं, ऐसा कहा जा सकता है। फिर भी, हमने तो यूरोप की ही शिक्षा-दीक्षा, विकास-दृष्टि तथा जीवन-दृष्टि अपना ली।

स्वतंत्रता मिली, हमें लगा कि चमत्कार हो गया। पर आगे क्या करना है, इसका कोई स्पष्ट चित्र नहीं था। 18 वीं शताब्दी के इस यूरोपीय विचार से

ही हम भी भरे हुए थे कि यदि अवसर उचित रहे तो हम लोग भी उनके रास्ते पर चलते हुए उनके बीसवीं सदी के स्तर पर पहुंच जाएंगे। हमने मान लिया था कि पश्चिमी चिंतन ही सारे संसार को जीत लेगा, इसलिए जल्दी-जल्दी उसी राह पर हम बढ़ चले। लेकिन एकदम से पराई राह पर, अनचीन्हीं, अपरिचित राह पर चलना सबको तो नहीं आता। जिन्हें आता था, वे आगे बढ़ गए; पश्चिमीकृत हो गए; बाकी यों ही पड़े रहे। इस तरह समाज के शक्तिशाली व सम्पन्न लोगों की साधारण समाज से, वृहत् समाज से, दूरी बढ़ी, विलगाव बढ़ा, आत्मीयता घटी।

फलतः समाज में कई स्तरों पर विभेद उभरे। पहले पुरुषों को अधिक आधुनिक शिक्षा दी गई, तो वे कुछ पश्चिमी उपकरणों, वस्तुओं, साहित्य, मनोरंजन, आदि का उपयोग करने और आनन्द लेने में समर्थ बने। पर भारतीय स्त्रियां ऐसी शिक्षा में नहीं पड़ीं, उनकी भारतीय मानसिकता और सोच टिकी रही। इसलिए घर के भीतर ही विखंडन हो गया; बाहर के कार्यक्षेत्र की बात घर पर कर सकना सम्भव नहीं रहा और स्त्रियों और पुरुषों के संसार अलग-अलग होते चले गये। मेरी मां पूछती — बेटा, क्या पढ़ रहा है, तो मैं उन्हें बता नहीं पाता; कहता — तुम समझोगी नहीं। पहले जो लोग रामायण, भागवत, रघुवंश, गीता, महाभारत, पुराण, गणित-ज्योतिष, पंचतंत्र, हितोपदेश, व्याकरण आदि पढ़ते थे, तो सरलता से मां को व परिवार की दूसरी स्त्रियों, बहनों व बेटियों को उनके विषय में बता सकते थे, क्योंकि वे भी उन्हें समझ सकती थीं। पर अब यह सम्भव नहीं रहा। खेती या पुराने हुनर, शिल्प, कला-कौशल, उद्योग आदि के बारे में तो घर की स्त्रियां भी उतना ही जानती थीं, जितना पुरुष; बल्कि प्रायः स्त्रियां कुछ अधिक ही जानती थीं। तो, पहले ऐसा विखंडन नहीं था, कार्यक्षेत्र के बारे में घर पर बात की जा सकती थी; अब वह नहीं रहा।

इसी प्रकार, सम्पन्न लोगों और वृहत् समाज के बीच संवाद घटता गया। मेटकाफ (अंग्रेज अधिकारी) ने जब 1930 के करीब कलकत्ते में कहा कि इन भारतीयों का कुछ ठिकाना नहीं है, ये तो हवा के साथ चलते हैं, जाने कब हमारे विरुद्ध हो जाएं, तो ब्रिटिश गवर्नर जनरल विलियम बेण्टिंक ने कहा कि — नहीं, कलकत्ते के समाज के बड़े लोग तो बदल रहे हैं, हमारे अनुकूल हो रहे हैं, अब वे गौपालन, गोसेवा, ब्राह्मण-भोजन, भिक्षा, आदि में खर्च करना बंद कर रहे हैं, हमारे मनोरंजन में, हमारे सेवा-सत्कार में ज्यादा से ज्यादा खर्च कर रहे हैं; इसलिए हमारे अनुकूल वर्ग बढ़ रहा है।

यह विभेद, यह विलगाव तो शायद 1830 के करीब से बढ़ता ही गया।

अभी कुछ वर्ष पहले मैं हरिद्वार गया था तो वहां हमारे पंडे की बही में हमारे ही कस्बे के एक व्यक्ति की लिखत थी—1885 की; जो अंग्रेजी में थी। जब इतने वर्ष पहले उत्तर प्रदेश के एक कस्बे में एक व्यक्ति अंग्रेजी को प्रभुत्व की, प्रतिष्ठा की भाषा मान रहा था, तो स्पष्ट है कि भेद तो बढ़ रहा था। वह बाद में गहरा ही होता चला गया।

इस तरह अंग्रेजों की योजना ही सफल हुई। जो उन्होंने चाहा था, अधिकांशतः वही हुआ। वे हमारी अपनी विद्या—बुद्धि तो नष्ट करना ही चाहते थे। मैकाले के सामने कुछ अंग्रेज अफसरों ने यह तर्क रखा था कि यहां बंगाल में तो एक लाख देशी स्कूल पहले से हैं, उन्हें हम दस-दस रुपया भी प्रति वर्ष दें तो उनका काम चलता रहेगा। उसी में से अपने काम के लोग भी निकल आएंगे या हम उनमें से छांट लेंगे। उस पर मैकाले ने कहा कि नहीं, उन्हें कुछ भी देने का कोई औचित्य नहीं है, वह तो व्यर्थ होगा। पहले हम अपने प्रशिक्षकों को प्रशिक्षित करें, फिर वे शिक्षण—संस्थाओं को बनायें और उनके माध्यम से काम करें; तभी हमारी विश्व-दृष्टि का ज्ञान इन भारतीयों को होगा। तो इस तरह हिन्दुस्तान को उन्होंने कोरी स्लेट मान लिया था और हमारे भी कुछ लोग तभी से यही मान बैठे थे। उनकी विश्व-दृष्टि, शिक्षण—संस्थाओं वगैरह के द्वारा हम तक पहुंची और हमने उसे ही अपना लिया, बिना मनन किए। पिछले 40—50 वर्षों में तो यह विचार मानस पर छा ही गया। जो लोग 1950 के करीब से ग्राम पुनर्चना, सामुदायिक विकास (कम्युनिटी डिवेलपमेंट) इत्यादि चला रहे थे, उन पर तो और भी अधिक।

अभी कुछ दिन पहले प्रख्यात दार्शनिक विद्वान दयाकृष्ण यहां दिल्ली में बतला रहे थे कि 1850 के करीब से, जब अंग्रेजों ने भारत में विश्वविद्यालय स्थापित करने शुरू किये, हमारा आत्मचित्र और आत्मस्मृति बिगड़नी शुरू हुई। हम तबसे स्वयं को और अपने समाज व इतिहास को अंग्रेजों की दृष्टि से देखने लगे। यह कुछ दुर्भाग्य ही है कि हमें यह समझ इतनी देर से आयी। मेरे विद्वान मित्र श्री रामेश्वर मिश्र 'पंकज' का तो यह भी मानना है कि यह समझ भी हमारे काम की तभी होगी जब हम अब तक की नासमझी और गलतियों व मूर्खताओं के लिए प्रायश्चित्त कर लेंगे। गलती के लिए प्रायश्चित्त करना ही धर्म है, यह तो हमारी पुरानी मान्यता है। रूस के प्रसिद्ध लेखक एलेक्जेंडर सोल्झेनित्सिन भी, अपनी सभ्यताओं की मान्यताओं के आधार पर, प्रायश्चित्त को इसी तरह प्रतिष्ठा देते हैं।

यह तो हमने सोचा ही नहीं कि यह हमारी अपनी विचार—परम्परा में

से आने वाला अथवा उससे पुष्ट होने वाला विचार नहीं है, बल्कि यह तो पश्चिम का ही विचार है। शायद प्लेटो का भी यही विचार रहा हो, पूंजीवाद और मार्क्सवाद का तो है ही कि — लोग कुछ नहीं हैं, वे तो हमारे द्वारा सुधारे जाएंगे, पीटे—ढाले जाएंगे, फिर जिधर हम चाहेंगे, उधर वे चलते चले जाएंगे, हम बढ़ते चले जाएंगे। जब, यह उनका विचार है तो उनमें इतनी शक्ति भी होती है कि एक समय तक वे पूरे समाज को एक दिशा—विशेष में हांककर ले जाते हैं। जैसे, सोवियत संघ ही था; मारपीट, वगैरह जो भी की, पर सत्तर साल तक मार्क्सवाद वहां चला, शायद कुछ बनाया भी, हो सकता है रूस के लोगों को शक्ति भी मिली हो, और उनका सामाजिक आत्मविश्वास तो बढ़ा ही है।

लेकिन वैसी कठोरता हमारे वश की नहीं। और अपनी शक्ति के उदात्त रूपों की, परम्पराओं की हमारी स्मृति जैसे—जैसे धुंधली होती गई, वैसे—वैसे कोई काम हम शक्तिवान लोगों की तरह कर पाने में असमर्थ होते गये। भारत में, जहां लोगों को भोजन उपलब्ध कराने का लक्ष्य पूर्ण होना तो कुछ कठिन नहीं था; हमसे वह भी नहीं हो पा रहा है। न ही हम सोच पाए कि यह हमसे हो सकता है। हमारे मन में तो केवल सबको काम देने की बात थी वह भी ऐसे नए काम, जो हम चाहते थे कि वे सीखें; उनका अपना हुनर, अपनी बुद्धि, अपनी विद्या, अपनी सृजनशीलता भी सम्माननीय है, यह तो कभी हमें लगा नहीं। न ही उनकी श्रेष्ठ परम्पराओं को प्रोत्साहन देकर और आत्माभिव्यक्ति के अवसर देकर, हमने उन्हें कोई श्रेयष्कर काम करने दिए।

नतीजा यह हुआ कि हमने कुछ उत्पादन, वगैरह तो बढ़ाया, पर वह सब निष्प्राण सा रहा। उसमें समाज का मन, बुद्धि, पुरुषार्थ, प्राणशक्ति खिलकर नहीं लगी। नई चीजों की समझ भी पूरी तरह नहीं बनी और सम्बन्ध भी विकसित नहीं हुए। इससे जो कुछ काम हुआ भी, उससे कबाड़ ही बढ़ा। 50 वर्षों में हमने बहुत नया कबाड़ इकट्ठा कर लिया। पुराना कबाड़ भी बहुत सारा था ही। छांटने का विवेक खोकर, हम बस संग्रह करते गये। अलग—अलग चीजें कबाड़ जैसी पड़ी रहीं; उनका आपस में कोई रचनात्मक सम्बन्ध बनाना तो हमने सीखा नहीं। विचार के क्षेत्र में, मान्यताओं के क्षेत्र में, रुचियों के क्षेत्र में, भाषा, वेश—भूषा, भवन और भोजन के क्षेत्र में, जो भी नवनिर्माण इधर हमने किया, वह तो कबाड़ जैसा ही है; उससे कोई राष्ट्रीय उत्कर्ष तो सम्भव नहीं है। इस कबाड़ को तो हटाना ही होगा; नया ही सृजन करना होगा। क्या करना है, यह मुख्यतः अपने ही लोगों से सीखना होगा, उनसे जिनमें अपनी शक्ति के उदात्त रूपों की और परंपराओं की स्मृति अभी बची है।

अपनी संस्थाओं, मान्यताओं को बिना किसी कुंठा के समझना होगा। अपनी 'पालिटी' को, अपने राजनीति-तंत्र को, सही-सही समझना होगा। हमारे बारे में जो-जो सिखाया-पढ़ाया गया है, उसके बारे में सन्देह करना भी सीखें, सबको निर्देश मानकर स्वीकार न करते चलें, यह बहुत जरूरी है।

यूरोप ने हमें जिस तरह से देखना सिखाया, उसे पुष्ट करने वाले तंत्र भी उन्होंने रचे; उनका यह स्वभाव ही है। संयुक्त राज्य अमेरिका में रेडइंडियनों (वहाँ के मूल निवासियों) की गणना पुरानी जनगणनाओं में कभी की ही नहीं जाती थी, क्योंकि यूरोप से आए लोग रेडइंडियनों को मनुष्य नहीं मानते थे। इसी दृष्टि के फलस्वरूप करोड़ों की संख्या वाले रेडइंडियनों का वंशनाश ही कर डाला। अफ्रीका से लाये गये 'ब्लैक्स' को भी वे पूर्ण मानव नहीं मानते थे। 1850 के करीब शायद 5 'ब्लैक्स' को मिलाकर एक मनुष्य मानते रहे। मनुष्य पूरी तरह तो वे केवल खुद को मानते हैं, बाकी उनके लिए आदिम, पिछड़े, बर्बर, अविकसित मनुष्य, कमतर मनुष्य हैं।

भारत में भी ब्रिटिश जनगणना उनकी ही दृष्टि के हिसाब से की जाती रही। हमारे यहां जाति तो कभी समाज की उस रूप में इकाई रही नहीं; 'जात' शब्द का प्रयोग कुल-विशेष में जन्मे व्यक्तियों के अर्थ में ही किया जाता रहा है। जाति व वर्ण कोई सामाजिक वर्ग कभी नहीं रहा। पर अंग्रेजों ने उसे इसी तरह से दिखाया। 1881 व 1891 की जनगणना में अनेक जातियों में कई-कई हजार उपजातियां दिखाई गईं; यह तब के 'कुल' रहे होंगे, ऐसा लगता है। पंजाब में 1881 में जाटों में 10 हजार के करीब उपजातियां दिखाई गई थीं। वे सम्भवतः आज कही जाने वाली खाप थीं। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में 1881 की जनगणना में अनेक जातियों में दो-दो चार-चार हजार उपजातियां दिखाई गईं। ऐसा ही तमिलनाडु में रहा। स्पष्ट है कि यह 'कुल-समूह' ही थे, जिन्हें उपजाति कहा जा रहा था। बाद में कई उपजातियों को एकजुट करके दर्ज किया जाने लगा। फिर जाति ही मूल इकाई बताई जाने लगी। फलतः हमारा शिक्षित वर्ग भी उसे ही प्राचीन और स्वाभाविक मौलिक इकाई मानने लगा।

इस तरह हर क्षेत्र में हमने समाज की अपनी स्वाभाविक आत्माभिव्यक्ति को अवरुद्ध किया, बाधित किया। दूसरी ओर, बाहर से भी जो लिया, उसे ठीक से आत्मसात् नहीं कर पाये, अपना नहीं बना पाये। संसार में सभी समाज और सभ्यताएं एक दूसरे से सीखते रहते हैं, पर वे सीखी हुई विद्या, जानकारी और हुनर को अपना बना लेते हैं। आत्मसात् करने का यह काम भी हम नहीं कर पाए। इससे केवल कबाड़ और बोझ बढ़ता रहा।

1940 में महात्मा गांधी, राष्ट्रीय योजना समिति (नेशनल प्लानिंग कमेटी) की ग्रामोद्योग उप-समिति (विलेज इंडस्ट्रीज सब-कमिटी) की वर्धा की बैठक में मौजूद थे। निर्मल कुमार बोस के अनुसार उस समय गांधी जी की सलाह थी कि परंपरागत (ट्रैडिशनल) और आधुनिक (मॉडर्न), दोनों आस्थाओं व विचारों के लोग अपनी-अपनी समयबद्ध विस्तृत योजना बना लें, और बतलायें कि उनमें से क्या निकलेगा और काम शुरू करें। इस सुझाव में गांधी जी की शर्त थी कि यह दोनों योजनाएं विदेशों से किसी तरह से धन व साधन नहीं लेंगी और जो भी धन व साधन जरूरी होंगे, वे भारत के अन्दर से ही लिए जाएंगे। मुझे लगता है कि गांधी जी के इस सुझाव पर, आज फिर विचार और खुली चर्चा होनी अवश्यक है।

पिछले 150-200 वर्षों में यूरोप की सभ्यता ने भीमकाय और चमकीले ढांचे तो अवश्य बनाये। उन्हें अधिक उत्पादक भी माना जाता है और कहा जाता है कि वे मनुष्य की मेहनत को हल्का और आसान करते हैं। यूरोप का स्वचालन (ऑटोमेशन) का विचार तो 2300 वर्ष पहले अरस्तू ने भी उठाया था। परन्तु, यह यूरोप के बनाये तंत्र व ढांचे कुल मिलाकर विश्व को व मनुष्य समाजों को कितना अधिक देते हैं, इस पर विचार करना आवश्यक है। 40-50 वर्ष पहले हमारे मित्र रामस्वरूप ने अपनी पुस्तक 'कम्युनिज्म एंड द पीजैण्ट्री' में आधुनिक उत्पादन (मॉडर्न प्रोडक्शन) के विषय में कुछ प्रश्न उठाये थे। उनका कहना था कि इसका भीमकाय रूप, तेज रफ्तार और चमकीलापन एक भ्रम पैदा करता है और इसकी जड़ें इसी भ्रम पर टिकी हैं! उनका मानना था कि कुल मिलाकर मॉडर्निज्म से अधिक उत्पादन नहीं होता, उसका भ्रम ही रहता है। रामस्वरूप ने इसको 'साइकिल प्रोडक्शन' का नाम दिया था। हमें इस तरह के मूलभूत प्रश्नों पर भी सोचना शुरू करना चाहिये।

प्रश्न उठता है कि आगे क्या करें? आज के संसार से हमारे पश्चिमीकृत वर्ग ने जो ज्यादा ही सम्बन्ध बना लिया है, वह अभी टूटता दिखता नहीं। अतः कुछ समय तक तो पश्चिमीकृत समुदाय या वर्ग भी रहेगा और वृहत् समाज भी रहेगा। भारतीय मान्यताओं में तो संसार ने सभी तरह के जीवों को, लोगों को और समाजों को रहना ही है। हिंसकों के लिए भी यहां जगह है; हिंसा पूरी तरह समाप्त हो, यह सम्भव नहीं है; लेकिन हिंसा मर्यादित रहे, यह आवश्यक है।

आज की स्थिति में यह विचारणीय एवं आवश्यक लगता है कि भारत में वृहत् समाज को समुचित साधन व स्वतंत्रता मिले, जिससे वृहत् समाज की इकाइयां अपनी मान्यताओं, व्यवस्था की अपनी प्रणालियों और अपने तकनीकी

ज्ञान के आधार पर चल सकें। भारत में कृषि व उद्योग या ऐसे अन्य क्षेत्रों में 80 प्रतिशत उत्पादन तो आज भी परम्परागत भारतीय प्रतिभा के लोग ही करते हैं। आवश्यक साधन व स्वतंत्रता रहेगी तो यह प्रतिभा फूले-फलेगी; परिष्कृत होगी और इसके परिष्कृत होने पर यह भी सम्भव हो पायेगा कि पश्चिम के ज्ञान और भारतीय वृहत् समाज के ज्ञान में कुछ संवाद और लेन-देन कायम हो सके। वृहत् समाज के पास आवश्यक साधन व स्वतंत्रता आ जाये, पर्याप्त खुली जगह (स्पेस) मिल जाये, तो वह आत्माभिव्यक्ति करने लगेगा। उसकी आत्माभिव्यक्तियाँ ही समाज को स्वस्थ, सबल और समृद्ध बनाएंगी।

अभी के आधुनिकृत समूहों ने तो समस्त राजनैतिक सत्ता और बल का प्रयोग इन आत्माभिव्यक्तियों को बाधित करने के लिए ही किया है। परिणाम यह है कि भारत दो भागों में बंटा है, पर यह बंटवारा हमें सामाजिक विनाश की ओर ही ले जाता है। एक भाग है उन आधे प्रतिशत लोगों का जो अपने सहायक तथा सेवक वर्ग के सहारे, जो कि लगभग 15-20 प्रतिशत बैठता है, भारत के तंत्र और साधन क्षेत्रों को नियंत्रित करते हैं। दूसरा भाग उन 80-85 प्रतिशत लोगों का है, जो अपने अति सीमित साधनों और अवशिष्ट बल से ही जी रहे हैं।

यह सही है कि पश्चिम को इसका अभ्यास रहा है कि 90 क्या, 99 प्रतिशत तक की आबादी को एक प्रतिशत प्रभुवर्ग दासत्व में बांधकर रखे और उन्हें मशीन जैसा मानकर काम ले। समय-समय पर पश्चिम के औजार इत्यादि बदलते रहे हैं, लेकिन रिश्ता स्वामी और दास का ही बना रहा है। हमारे यहां तो यह संस्कार ही नहीं रहा; इसलिए यहां के लोग जो स्वाधीनता-संग्राम के कारण, उसके संस्कारों के प्रभाव से, सम्पन्न वर्ग के प्रति अब तक आत्मीयता और सहनशीलता रखे हुए थे, वे अधिक समय इसे रख और सह नहीं सकेंगे। अतः मनमाने टकराव तथा हिंसा का रास्ता खुला छोड़े रखने से अच्छा है कि दोनों का स्पष्ट न्यायसंगत विभाजन हो जाए। पश्चिमीकृत लोग अपने पश्चिमी किस्म के ढांचों के साथ महानगरों, आदि में रहें; परन्तु उनके साधन-स्रोत जरूर घटाने होंगे; अभी की तरह 85-90 प्रतिशत साधनों का उपयोग केवल उन्हें ही तो नहीं करने दिया जा सकता। लेकिन उन्हें न्यायपूर्ण साधन-स्रोतों के आधार पर अपना जीवन चलाने की पूरी स्वतंत्रता रहे। दूसरी ओर, 80-85 प्रतिशत लोगों को अपने साधन-स्रोतों का स्वविवेक से आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रयोग करने दिया जाए। उनसे गलतियाँ भी होंगी; पर गलतियाँ आधुनिक वर्ग से भी तो कम नहीं हुई हैं।

इस तरह के न्यायसंगत बंटवारे में यह आवश्यक है कि इन लगभग

48-50 वर्षों में हमने सरकारी और स्वैच्छिक स्तर पर जो नयी योजनाएं बनाई हैं, संयंत्र, बांध, बिजली के प्रतिष्ठान, मकानों और वास्तुकला, आदि की विधियाँ अपनाई हैं, उनकी पूरी तरह से समीक्षा हो। भारत की कृषि-व्यवस्था, भवन-निर्माण, वन व्यवस्था, पशुपालन-व्यवस्था, वस्त्र-निर्माण व्यवस्था, भवन-निर्माण एवं प्रबन्ध जैसे कार्य तो वृहत् समाज की ही जिम्मेदारी रहे। उनकी शिक्षा भी उनके ही अधीन चलनी चाहिए; आधुनिकतावादियों की शिक्षा का उन पर नियंत्रण तथा बोझ न रहे।

जितना वृहत् समाज के लोगों को बाहर का या आधुनिकीकृत वर्ग का लेना तथा आत्मसात् करना होगा, वे कर लेंगे। आत्माभिव्यक्ति के स्वतंत्र अवसर मिलें, तो वे आवश्यकतानुसार वाह्य ज्ञान को आत्मसात् भी करते रहेंगे। अपनी सभ्यता, संस्कृति, विद्या-केन्द्रों का नवनिर्माण वे अपने विवेक से कर लेंगे। आपस में स्वतंत्र तथा सम्मानजनक संवाद तथा सम्प्रेषण रहेगा ही। लेकिन वृहत् समाज को हीन मानकर, उनका उद्धार और कल्याण करने की युक्तियाँ देते हुए, राष्ट्रीय साधनों-स्रोतों पर नियंत्रण रखना हो तो हमें छोड़ना ही होगा। ऐसे न्यायपूर्ण विभाजन, संयोजन और समन्वय द्वारा राष्ट्र में 20-30 वर्षों के लिये दोनों हिस्सों का शक्ति पूर्ण सह अस्तित्व रह सकना संभव है, ऐसे सहअस्तित्व की अवधि में, हमें कुछ अधिक साहस और शक्ति मिली तो हम मिलकर आगे का भी सोच सकेंगे और ऐसे रास्ते व व्यवस्थायें बना सकेंगे जिनके द्वारा हमारा यह टूटा-बिखरा समाज फिर से एक होकर आगे बढ़ सकेगा।

अंग्रेजी शासन और तंत्र व्यवस्था

सन् 1750 से भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते ही, अंग्रेजों ने यहां अपनी जरूरत के मुताबिक व्यवस्था को बदलना शुरू कर दिया था। उसमें सबसे पहला काम तो अंग्रेज अफसरों व सैनिकों के मातहत बढ़ती हुई अंग्रेजी सेना में भारतीयों को भर्ती करना था। दूसरा, और इससे भी अधिक महत्व का काम था भारत के खुशहाल खेतिहरों व कारीगरों को अलग-अलग तरीकों से अपने अधीन करना और यहां की खेती की उपज के आधे से अधिक भाग कर (टैक्स) के रूप में बन्दूक व तलवार के जोर पर वसूल करना। इसी तरह से कारीगरों से जबरदस्ती काम करवाना और उनके उद्योगों से बनी वस्तुओं की कम से कम कीमत देना। आरम्भ में तो ऐसी कार्यवाही मद्रास व बंगाल के क्षेत्र में ही रही, लेकिन सन् 1800 के बाद अंग्रेजों ने धीरे-धीरे सारे भारत में ऐसा करना शुरू कर दिया। इसी प्रकार के बदलाव अंग्रेजों के मातहत आये हुए भारतीय क्षेत्रों में भी होने लगे — वहां भी नये तंत्र स्थापित होने लगे।

भारतीय व्यवस्थाओं के अनुसार हर क्षेत्र की अपनी स्थानीय सैनिक व्यवस्थाएं थीं और हर ग्राम व नगर में अपनी स्थानीय पुलिस व्यवस्था भी थी। सेना और पुलिस स्थानीय व्यवस्थाओं के अधीन होती थी। इसी तरह से, जमीन का हिसाब-किताब, उसकी रजिस्ट्री या उनमें आवश्यक तब्दीली करने वाले लोग भी स्थानीय व्यवस्थाओं के मातहत रहते थे। जमीन के हिसाब-किताब से संबंधित लोगों को दक्षिण भारत में कनकपिल्ले और उत्तर में लेखपाल, पटवारी इत्यादि कहा जाता था। इसी तरह से गांव के स्तर पर बड़ई, लोहार, धोबी, कुम्हार, सिंचाई के साधनों की मरम्मत व व्यवस्था करने वाले, पंचांग और तिथि, शुभ दिन इत्यादि बताने वाले, मंदिरों के पुजारी, देवदासी, गायक और दूसरे कर्मचारी गांव और नगर के मोहल्लों से संबंधित होते थे। गांव में इन सब का कृषि की उपज में हिस्सा होता था। अंग्रेजी शासन ने आते ही सेना, पुलिस, कनकपिल्ले, सिंचाई के साधनों की मरम्मत व काम करने वालों इत्यादि को इस व्यवस्था से पूरी तरह से अलग कर दिया। पुरानी व्यवस्था में इन लोगों को जो मिलता था वह अब मिलना बन्द हो गया क्योंकि ब्रिटिश सरकार अब उसे कर के रूप में लेने लगी। इनमें से कुछ लोगों को तो ब्रिटिश सरकार ने अपना नौकर बना दिया परन्तु बाकी बेकार हो गये। अंग्रेजों से पहले भारत में, दक्षिण और

उत्तर दोनों में, यह प्रथा थी कि किसी का अगर कुछ खो जाता था और पुलिस अगर खोई हुई चीज को तलाश करने में सफल नहीं होती थी, तो पुलिस को जिस व्यक्ति का सामान खोया होता था उसे हर्जाना देना पड़ता था। अंग्रेजी व्यवस्था ने भारतीय पुलिस व्यवस्था को खत्म कर दिया और उसकी जगह नई केन्द्रीकृत व्यवस्था लागू की। ऐसा करते ही हर्जाने की बात तो पूरी तरह से समाप्त ही हो गयी। उल्टे कुछ दिनों के बाद ऐसा होने लगा कि अंग्रेजी पुलिस, जिनका कुछ खो जाता था और जो शिकायत दर्ज करवाते थे, उन्हीं के साथ मारपीट करने लगती थी। इसके साथ-साथ ही जमीन का लगान अंग्रेजी व्यवस्था ने तिगुना-चौगुना बढ़ा दिया और सन् 1790 के आसपास जमीन की मिल्कियत कुछ थोड़े से लोगों को दे दी, जिन्हें जमींदार कहा गया। वैसे इंग्लैंड में 700 वर्षों से जमींदार होते रहे थे, लेकिन ये जमींदार किसान से कुल फसल का 50-80 प्रतिशत तक लगान के रूप में ले लेते थे, सरकार को कुल फसल का लगभग 10 प्रतिशत देते थे। शेष अपने पास रखते थे। लेकिन बंगाल इत्यादि में जो जमींदार अंग्रेजों ने बनाये वे किसानों से उनकी उपज का करीब 50 प्रतिशत वसूल करते थे और उसमें से 90 प्रतिशत ब्रिटिश सरकार को कर के रूप में देते थे। उनके अपने पास किसान से वसूल किये गए लगान का 10 प्रतिशत ही बचता था।

किसान से लगान वसूली की दर में तिगुनी-चौगुनी वृद्धि अंग्रेजों के जमाने में हुई। इसलिए इतना ऊँचा कर वसूल करना असंभव सा हो गया। इसका एक और कारण भी था। भारतीय व्यवस्था में लगान, जिसकी दर वैसे भी काफी कम थी, अनाज के रूप में ही लिया जाता था। परन्तु अंग्रेजों ने बढ़ते हुए लगान को, अनाज के बजाय पैसे में लेना शुरू किया। पिछले 10 वर्षों की फसल का दाम इत्यादि निकाल कर भूमिकर पैसे के रूप में निर्धारित किया गया। अंग्रेजी व्यवस्था के आने से गरीबी में जो भारी बढ़ोत्तरी हुई और उसकी फसल के दाम गिर गये। इसका असर भी किसान पर दोतरफा हुआ क्योंकि उसे लगान अब फसल के बजाय पैसे में देना होता था। मन्दी के कारण फसल की कीमत कम होने की वजह से वास्तविक लगान की दर 80 से 90 प्रतिशत तक होने लगी, यानी किसान के पास सिर्फ 10 से 20 प्रतिशत ही बचता था। इस वजह से लगान वसूली में मुश्किलें आने लगीं। इसलिए अंग्रेजी तंत्र ने सन् 1792 में फैसला किया और जमींदार को यह हक दिया कि वह जब चाहे खेतिहर को जमीन से बेदखल कर सकता है। इससे पहले भारत में कभी भी खेतिहर को इस तरह से उनकी जमीन से बेदखल करने का रिवाज नहीं था।

लेकिन अंग्रेजी अधिकारियों का तर्क था कि अगर इंग्लैंड में खेतिहर को वहां का जमींदार निकाल सकता है तो भारत में ऐसा अधिकार और भी जरूरी है, क्योंकि यहां लगान की दर इंग्लैंड से कई गुना ज्यादा है।

क्योंकि इतना बड़ा लगान वसूल करना आसान नहीं रहा होगा इसलिए सेना की टुकड़ियों को, जिन्हें रेवेन्यू बटालियन कहा गया, उन्हें कर वसूल करने के काम में लगाया गया। इसका परिणाम यह भी हुआ कि सन् 1805-1806 तक बंगाल-बिहार के अधिकांश जमींदार दिवालिया हो गये। इसके बाद इन जमींदारियों की नीलामियाँ शुरू हुई और साहूकार, फौजी ठेकेदार, राजा इत्यादि नये जमींदार बने। यह सिलसिला अगले 40-50 वर्ष तक चलता रहा और इस दौरान भारत की जनता की एक बड़ी संख्या भुखमरी, अकाल इत्यादि से सन् 1900 और उसके बाद तक मरती रही। कविवर श्री मैथिलीशरण गुप्त के अनुसार, **“कुल दुनिया की लड़ाइयों में सौ वर्ष के अन्दर (सन् 1793 से सन् 1900 तक) सिर्फ पचास लाख आदमी मारे गये थे पर हमारे हिन्दुस्तान के केवल दस वर्ष में (सन् 1891 से सन् 1901 तक), भूख, अकाल के मारे एक करोड़ नब्बे लाख मनुष्यों ने प्राण त्याग दिये”** – (हिन्दी ग्रन्थमाला, मई सन् 1908 पृष्ठ 9 और ‘भारत भारती’, संवत् 1969, पृष्ठ 87)। तब मैथिलीशरण जी 26 वर्ष के थे। वे शायद राजेन्द्र प्रसाद व जवाहरलाल नेहरू की उम्र के तब रहे होंगे, हो सकता है कि एक-दो वर्ष बड़े भी हों। इससे पहले, सन् 1870 के आसपास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा था कि अंग्रेजों ने भारतवासियों से सब कुछ ले लिया, लेकिन उन्हें भीख मांगना अवश्य सिखा दिया है। महात्मा गांधी जनवरी सन् 1915 में भारत लौटे थे। ऐसा लगता है कि मैथिलीशरण जी की तरह बहुत से भारतीय गांधीजी के आने की तीव्र प्रतीक्षा कर रहे थे। जब महात्मा गांधी 9 जनवरी, 1915 को जहाज से बम्बई पहुंचे तब उनका बहुत भव्य स्वागत हुआ। लेकिन ऐसा स्वागत गांधीजी को कुछ अच्छा नहीं लगा। उनके आने के तीन-चार दिनों के अन्दर भारत के कई प्रमुख दैनिक समाचार पत्रों में गांधीजी के आने को लेकर लम्बे-लम्बे संपादकीय लिखे गये— मद्रास के ‘हिन्दू’ में, और इलाहाबाद के ‘लीडर’ में भी। उन्हें पढ़ने से ऐसा लगता है जैसे कि किसी अवतार की प्रतीक्षा हो रही थी। यह वर्णन कुछ उसी तरह का है जैसा कि गौतम बुद्ध के जन्म का वर्णन अश्वघोष के ‘बुद्ध चरित’ में किया गया है, कुछ ललित विस्तार से।

अगर यह सही है कि सन् 1891 से सन् 1901 तक भारत में भुखमरी के कारण एक करोड़ नब्बे लाख लोग मर गये तो, अंग्रेजी शासन के शुरू से

उसके अंत तक भारत में 20-25 करोड़ जन भुखमरी से मरे होंगे, ऐसा माना जा सकता है। इसी तरह करोड़ों की संख्या में गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड़ और दूसरे जीव-जन्तु भी मरे होंगे। वन और पेड़-पौधे तो बहुत बड़ी तादाद में नष्ट हुए ही।

इस तरह के शोषण और अत्याचार के कारण भारतीयों में अंग्रेजों से लड़ने की शक्ति नहीं रह गयी। वैसे तो भारत के लोग कभी भी खूँखार व लड़ाकू नहीं रहे, न ही उन्हें न्यायालयों में जाने का चाव ही था। अंग्रेजी राज्य ने उनके खेतों को छीन कर, उद्योगों व घरों को उजाड़ कर, उन्हें न्यायालयों की शरण लेने के लिए एक तरह से बाध्य किया। इन न्यायालयों में असत्य का सहारा लेना आवश्यक—सा हो गया। अंग्रेजों ने जो न्यायालय स्थापित किये उनमें अब तक भी यह बात ज्यादा चलती रही कि भारतीय असत्य ही बोलते हैं। उन्हें असत्य बोलना उनके वकीलों और कर्मचारियों एवं न्यायालयों ने ही सिखाया।

जैसे-जैसे न्यायालय स्थापित हुए वैसे-वैसे ही अंग्रेजी राज्य में जिलों को चलाने के लिए दूसरे तंत्र भी स्थापित हुए। ताल्लुकों को चलाने के लिए तंत्र बने। प्रदेशों को चलाने के लिए तंत्र बने। भारत को चलाने के लिए तंत्र बने। जितना अंग्रेजों से हो सका उतना उन्होंने भारत को कस कर रख दिया। लोगों को हिलने-डुलने, सांस लेने तक का मौका नहीं रहा। भय और उसके साथ-साथ गरीबी और मुफलिसी का राज्य छा गया।

फिर भी अंग्रेज कुछ भयभीत ही रहे, विशेषकर भारतीय सैनिकों से। साधारणतः तो अंग्रेज यही मानते थे कि भारतीय सैनिक, जिनकी संख्या सन् 1820-30 में दो-तीन लाख रही होगी, उनके प्रति वफादार हैं। लेकिन उन्हें यह भी लगता था कि कहीं अगर हवा का बहाव बदल गया और भारतीय सैनिकों को यह लगने लगा कि अंग्रेजों का राज्य उखड़ने वाला है, तो फिर वे अंग्रेजों के खिलाफ हो जायेंगे। इसी बीच में सन् 1829-30 के वर्षों में यह भी तय किया गया कि अंग्रेजों और दूसरे यूरोपीय लोगों को भारत में जहाँ-तहाँ, विशेषतः पर्वतों पर, ठंडी जगहों पर बसाया जाये। धीरे-धीरे ऐसी बसावट शुरू भी हुई। इससे पहले भी भारत में सैकड़ों जगह अंग्रेजी सेना की छावनियां बनी थीं। सेना के साथ, सेना की सेवा के लिए, उनकी तुलना में पांच-दस गुना ज्यादा लोग, सेना की सवारी और सामान ढोने के लिए एकत्रित किये जाते रहे। इनमें से, आधे से अधिक को, उस समय की अंग्रेजों द्वारा घटाई गयी मजदूरी भी नहीं दी जाती थी और कुछ लोगों को तो एकदम ‘बेगार’ में ही रखा जाता था। अफसरों व सैनिकों के लिए वेश्यालय भी तभी बने और जैसे-जैसे छावनियों की संख्या

बढ़ने लगी वैसे-वैसे यह सब ठिकाने भी बढ़ने लगे। सन् 1857-58 की अंग्रेजों और भारतीयों के बीच की बड़ी लड़ाई के बाद, जिसमें अन्ततः भारतीय हार ही गये, उनके सैकड़ों शहर लूटे गये और उनके पचासों लाख लोगों को वृक्षों पर लटका कर, अलग-अलग तरीकों से, मार दिया गया। इसके बाद अंग्रेजों को यह आवश्यक लगा कि भारत में बड़े पैमाने पर अंग्रेजों और यूरुपियों को बसाने का काम तेजी से आरम्भ किया जाना चाहिये। आज जो यह पहाड़ी शहर देशभर में हैं और काफी चाय व काफी के बगीचे या दूसरे बड़े व्यापारिक खेती के मैदान असम, बिहार और दक्षिण भारत इत्यादि में बने हैं, ये अधिकांशतः सन् 1860 के इसी अंग्रेजी फैसले के बाद स्थापित हुए।

इसी तरह सैनिकों की छावनियाँ भी और बढ़ाई गयी होंगी। आज शायद यह मानना पड़ेगा कि अंग्रेजों ने भारत में जो यह विस्तृत तंत्र खड़ा किया है वह सारे देश से जल्दी जाने वाला नहीं है। यह तंत्र कैसे यहाँ से उखड़े, इसके लिए तो हमें काफी सोचना होगा। ऐसे रास्ते निकालने होंगे जिससे हम अपना तंत्र खड़ा कर सकें, जिससे कि भारत की राज्य व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था, कृषि, वन, जल के साधन, बड़े और छोटे उद्योग और भारतीयों का सार्वजनिक जीवन, देश के लोगों के मन के अनुसार चल सके। इस तरह के सवाल स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में और पिछले 53 वर्षों में निश्चय ही हमारे विचारकों व राजनैतिकों के मन में उठे होंगे। सन् 1946 से सन् 1949 तक जो संवैधानिक सभा हमारे यहाँ बैठी, और जिसमें संविधान के बारे में काफी सोच-विचार और बातचीत हुई, उसमें भी इस तरह के प्रश्न उठे होंगे। उसके बाद भी देश की स्थिति को सामने रखकर ऐसे प्रश्न उठते ही दिखते हैं। ऐसा कहा जाता है कि अखिल भारतीय कांग्रेस में भी इस तरह के प्रश्न जब तब, गांधीजी के बाद भी, उठते रहे। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने स्वयं शायद कहा था कि उनके पिता जवाहर लाल नेहरू ने बड़ी गलती की कि अंग्रेजों के बनाये तंत्र को जैसा का तैसा रहने दिया। साधारण लोग और काफी सारे समाजवादी नेता और भारतीय जनता दल के कुछ नेता भी ऐसा कहते रहे हैं। कुछ दिनों पूर्व श्री नरसिंह राव ने, जो पांच वर्ष तक भारत के प्रधानमंत्री रहे, इस तरह के प्रश्नों को फिर से उठाया है, वह भी लंदन में। हम लोग इस पर सोचेंगे और बराबर आग्रह रखेंगे तो, दस-बीस वर्ष में भारत में, अंग्रेजों के बनाये तंत्र को पूर्ण रूप से बदलने का काम तो कर ही सकते हैं। जब ऐसा होगा तभी भारतीय शिक्षा, कृषि-उद्योग, पुलिस, सेवा आदि क्षेत्रों के स्वरूप को भी आज के समय के अनुरूप और प्राणवान भारतीय रूप में बनाना सम्भव होगा।

कहाँ हैं पश्चिमीकरण की जड़ें ?

वैसे तो भारत पिछले 20-30 वर्षों से विश्वशक्तियों के बढ़ते दबाव में है। भारत के गांव के प्राथमिक स्कूल भी उनके आदेश व सहायता से चलने लगे हैं। बसों का किराया बढ़े यह भी उनके आदेश से होने लगा है। सड़कें कैसी हों, कितनी चौड़ी हों इसके आदेश भी बाहर से आने लगे हैं। यहाँ तक कि सेवाग्राम आश्रम जैसे स्थान भी चौड़ी-चौड़ी सड़कों से घिरने लगे हैं। जबकि ऐसे स्थानों और स्थलों की शांति व पवित्रता के लिये यह आवश्यक था कि उनके आसपास अधिक मोटर गाड़ियां व दूसरे वाहन न चलें। विदेशों में हमारा सामान ज्यादा से ज्यादा जाये इसमें फँस कर पिछले पचास बरसों में हम अपनी हस्तकला उद्योग का विनाश ही कर चुके हैं। और कुछ महीनों से खादी ग्रामोद्योग आयोग इसमें लगा है कि हम खादी से अमरीकी जीन्स कपड़ा डैनिम और उससे जीन्स बनवायें और उन्हें विदेशों में भेजें।

हमारी खेती में तो बड़े पैमाने पर बगैर सोचे समझे विदेशीकरण हो चुका है। हमारे गांवों के कृषि व ग्रामोद्योग के उजड़ने का एक बड़ा कारण यह हमारी बेसमझी की नकल है। ये ही बेसमझी हमें आधुनिकता को समझने से भी दूर रखती है — चाहे वो तकनीकी के प्रश्न हों, व्यवस्था के या हमारी अपनी दिशा के। भारत की मानसिकता, उसकी प्राथमिकतायें, उसकी प्राकृतिक उपलब्धियां हमारे आज के देश चलाने वाले लोग समझ नहीं सके हैं। जैसे दो हजार बरस से यूरोप, व उसके बाद अरब लोग मुख्यतः अंतरराष्ट्रीय व्यापार व लूटमार पर जीवन चलाते थे। उसे ही हमने बेसमझी में मान लिया है कि बाकी विश्व का भी वही तरीका है। लेकिन हमारे यहाँ तो हमारी आवश्यकताओं की सभी वस्तुएं साधारणतः प्रचुर मात्रा में पैदा होती थी, बनती थी, हमें उनका व्यवस्थित उपयोग आता था, उनमें से मुख्य खाना, कपड़ा, रहने की जगह, सांस्कृतिक अभिव्यक्ति जीवन हमारे यहाँ के सब लोगों को उपलब्ध रहा है, यह हम भूल गये दिखते हैं। इस तरह की भूलें तो हमारे यहाँ पिछले पचास बरस से शुरू हुई, और अब तो हम सब पढ़े लिखे, अच्छे खाते पीते, किसी भी दल व सम्प्रदाय व वाद के हों, इन भूलों को सत्य वाक्य जैसे मानने लगे हैं। हममें वैसे पराये के लिये कोई प्रेम व निष्ठा नहीं पैदा हुई लेकिन यह जरूर हो गया है कि हमें अपने और पराये (व्यक्ति, व्यवस्था, तकनीक, विज्ञान) में जो भेद होते हैं वह

समझ में नहीं आते। स्वदेशी के प्रचार में जो लोग आज लगे हैं उनमें से अधिकांश को भी नहीं।

यह ऊपर जो कहा गया है वह अधिकांशतः तो हमारे 200—250 बरस की दासता का परिणाम है, और पिछले 50 बरस में हमारे ऊपर जो बाहर का बढ़ता दबाव है उससे इसका भारतव्यापी विस्तार हुआ है। हम समझ कर और लगकर प्रयत्न करते तो उसमें से निकल आते। लेकिन इन 30—40—50 बरसों की हमारी सोच और कार्य हमारे पर और एक नई विपत्ति ले आये हैं। देखने में जो विपत्ति आई है वह वैसे तो 12—14 बरस पुरानी ही है लेकिन उसका आरंभ व जड़ें तो यह जो हमारा संविधान है जिसको हमने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सीखा और उधार लिया, उसमें है।

अंग्रेजों ने 300—400 बरस पहले क्रोमवेल के मध्य सत्रहवीं शती के समय से अपने यहां दो दलों को लेकर राजव्यवस्था बनानी शुरू की। वह कमोवेश अभी भी अंग्रेजों के यहाँ चलती है। समय चलते चलते कोई और नया दल बनता है — जैसे कि 18 वीं सदी के अन्त में ब्रिटिश लेबर पार्टी बनी, तो पुरानों में से एक दल क्षीण पड़ जाता है जैसे कि विग व लिबरल क्षीण हुए। लेकिन ब्रिटेन एक छोटा देश है, उत्तर प्रदेश से भी क्षेत्रफल में छोटा और आबादी में तो आधा ही। दूसरे, राजनैतिक दल ही ब्रिटेन के लोगों के मुख्य संरक्षक व सहारा नहीं हैं। ब्रिटेन में पचासों ईसाई सम्प्रदाय हैं जिनसे अलग अलग लोग, पूरे मुहल्ले व गाँव भी सम्बंधित हैं। फिर वहाँ के पुराने धनवान और शक्तिशाली लोगों की क्लबें हैं, जहाँ देश की स्थिति पर विचार होता रहता है और अक्सर बड़े-बड़े फैसले भी ऐसे स्थानों पर होते हैं। यह जरूर है कि यह दो व तीन राजनैतिक दलों का बारी बारी से सरकार चलाने का तरीका ब्रिटेन से अमरीका, यूरोप व जापान तक गया है। लेकिन अमरीका इत्यादि में इस तरीके को अपनी तरह से समझा गया है, खपाया गया है, और जहाँ वह नहीं खप पाया जैसे दक्षिण अमरीका व अफ्रीका के देशों में, वहाँ जब तब डिक्टेटरशिप चलती ही है।

पिछले पचास बरस में हमारी राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक स्थिति दक्षिण अमरीका व अफ्रीका के देशों जैसी होने लगी है। भारत की लोक सभा व राज्यसभा, और प्रदेशों की विधानसभायें भी कंकाल जैसे होती जा रही हैं। हमारा 'स्टील फ्रेम' कहा जाने वाला अंग्रेजों का दिया तंत्र व ढांचा भी अब शक्तिहीन ही है, उसके बस का अब लोगों को बराबर भयभीत कर लेना नहीं है जो कि ब्रिटिश समय में उसका मुख्य काम था, लेकिन लोगों के रास्ते में बाधाएँ कायम करना तो अभी तक जारी है ही। इस राजनीतिक व्यवस्था और शासन

तंत्र की एक बड़ी देन है कि उसने देश के लोगों को बांट दिया है, परिवार-परिवार में व्यक्तियों को बांट दिया है, मोहल्लों-मोहल्लों में, गाँव-गाँव में। जिससे भारत के 10 से 15 प्रतिशत लोग तो सरकारी व्यवस्था के खंबे बन गये हैं, और बाकी 85 से 90 प्रतिशत निरुत्साहित, कंगाल और साधनहीन। देश का मुहल्ला-मुहल्ला, गाँव-गाँव, नगर-नगर बंट चुका दिखता है। बंटना तो अंग्रेजों के समय में ही आरंभ हो गया था, लेकिन हम उसे अब पूरा करने में लगे दिखते हैं।

इस तरह के टूटने की एक भयंकर शुरुआत दिल्ली के सांसदों और विधान सभा के सदस्यों को लेकर ही शुरू हुई। बहाना रहा कि दो, चार, छः सदस्य जिन्हें आयाराम-गयाराम नाम दिया गया, एक राजनैतिक दल छोड़कर दूसरे दल में जाते रहते हैं, और दलबदल होता रहता है, और इसमें धन व पद का लालच भी काम करता है। यह दलबदल कोई नई बात नहीं है। हजारों वर्षों से यह जहाँ तहाँ होता ही रहता है। इसके अलग-अलग इलाज भी होंगे। ब्रिटेन में तो जो पार्लियामेंट के सदस्य अपने दल के साथ मत नहीं देते, उन्हें दल से नहीं निकाला जाता, लेकिन उनका सामाजिक बहिष्कार जैसा होता है, लेकिन हमारे विद्वान राजनितिकों व उनके सलाहकारों ने तय किया कि जो सदस्य हर तरह से साथ नहीं देता, उसको न केवल दल से ही निकाल दिया जाये बल्कि उसका फौरन ही राजनीतिक प्रतिनिधित्व भी समाप्त कर दिया जाये। वैसे जो सदस्य सांसद या विधायक बनता है वह अपने क्षेत्र का प्रतिनिधि होता है, न कि किसी दल का भृत्य। उसको डांट — फटकार व हुक्म देने का अगर किसी को अधिकार है तो उसके क्षेत्र को न कि किसी राजनीतिक दल को। दल में वो स्वायत्त ही आया है, और दल ठीक-ठाक चलता है, न्याय करता है तो वो साधारणतः उसमें रहेगा ही। उसका किसी कारणवश विचार या ध्येय बदलता है तो वो तो उसका क्षेत्र ही संभाल सकता है।

लेकिन हमने तो ब्रिटिश राज्य के शुरू से ही यहां के समाज और लोगों के रास्ते में रुकावटें डालना ही सीखा है, या कानूनों के छिद्र बंद करना। रुकावटें डालने या छिद्र बंद करने का परिणाम यह हुआ कि यह देश फिर से क्रमशः आलस्य से भर गया और यहाँ की पारस्परिकता ओझल — सी हो गयी।

वैसे तो आज का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक ढांचा इन 200—150 वर्षों में, या और पहले से ही, जर्जर होता गया है, लेकिन पिछले 8—10 बरसों से भारत का जो बेहाल हुआ है उसका मुख्य कारण सांसदों को दल का भृत्य व कैदी जैसा बना देना है। वैसे भारत का संविधान और उसकी

संसद, विधान सभायें इत्यादि तो मूलतः दोबारा बनानी ही होंगी, लेकिन जब तक यह सब नया ढांचा बने तब तक कुछ कदम तो उठाने ही पड़ेंगे। उनमें एक कदम तो सांसद इत्यादि को स्वतंत्र कर देना और उनको उनके क्षेत्रों से जोड़ देना होगा। दूसरा कदम, यह आवश्यक है कि संसद, विधानसभा इत्यादि जितने वर्षों के लिये चुनी जाये, उतने वर्ष अवश्य चले। सरकार की किसी विषय पर बात नहीं मानी जाय तो ऐसा होना हर समय उसकी हार नहीं मानी जानी चाहिये। बात नहीं माने जाने का मतलब है कि वह अपना रास्ता बदले। उससे फिर भी काम न चले तो उसी संसद व विधानसभा में से दूसरी व तीसरी सरकार बन जाय। देश को साधारणतः व्यवस्थित रखना और प्रजा को अभय जैसा रहे, यह संविधान का, संसद का, विधानसभाओं का और राजनीतिक गिरोहों का प्रथम काम है।

अखिल भारतीय राजनीतिक गिरोहों का या दूसरे वैज्ञानिक, आर्थिक, व्यावसायिक गिरोहों का दबदबा व झूठी प्रतिष्ठा जितनी भी कम हो उतना देश के लिये अच्छा है। क्षेत्रों की देखभाल तो प्रदेश ही कर सकेंगे और प्रदेश मिलकर ही भारत को संभाल सकेंगे, सुव्यवस्थित रख सकेंगे, समृद्धि दे सकेंगे और विश्व के परिप्रेक्ष्य में शक्तिशाली और बराबर का रख सकेंगे। भारतीय केंद्र व्यवस्था से यह कभी होने का नहीं है, यह तो एक प्रवंचना है। केंद्र तो प्रदेशों का संघ ही चला सकेगा, और ऐसा संघ ही तय कर सकेगा कि केन्द्र को कौन — कौन काम सौंपे जायें, क्या—क्या साधन उसे उपलब्ध कराये जायें।

प्रदेशों में भी आज की राजनीतिक व अन्य संस्कृति उसे दिशा देती है व और दूसरी सभ्यताओं से कैसा संबंध बनाये, यह बताती है। यह अवश्य है कि हमें शक्तिशाली होने की आवश्यकता है। लेकिन शक्ति तो कई तरह से बनती है, केवल हावी व लुटेरे लोगों के रास्ते से ही नहीं। इस पर ध्यान देना हमारे विद्वानों व मनीषियों का काम है।